हिंदी-गद्य के युगनिर्माता

जगन्नाथप्रसाद शर्मा
हिंदी-विभाग
काशी-हिंदू-विश्वविद्यालय

प्रकाशक
समीक्षा-संसद्
की ओर से
सरस्वती-मंदिर
जतनबर, काशी

द्वितीय संस्करण : ११००
१९५८
मूल्य : ४।)

189709

मुद्रक—
महताब राय
नागरी मुद्रण
नागरीप्रचारिणी सभा, काशी
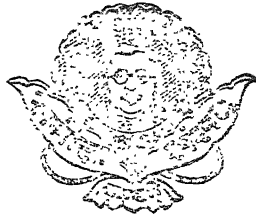
'समीक्षा-संसद्' के प्रेरक स्वर्गीय पं० रामचंद्र जी शुक्ल हैं। आधुनिक राजनीति के विविध प्रवाहों के घटाटोप में साहित्य की स्वच्छंद सत्ता को विलीन होते देख उसके योग-क्षेम के लिए उन्होंने 'समीक्षा-संघ' की स्थापना की थी। सभी कर्ताओं और समीक्षकों ने उसमें सहर्ष सहयोग-प्रदान किया था। शुक्ल जी स्वयं उसके अध्यक्ष थे और स्वर्गीय मुंशी प्रेमचंद जी उपाध्यक्ष। हिंदी के समीक्षा-क्षेत्र में संप्रति कितनी ही विजातीय शक्तियाँ प्रविष्ट होकर उसका रूप विकृत कर रही हैं, अतः साहित्य और समीक्षा के स्वच्छंद और सत्स्वरूप की प्रतिष्ठा का संभार करने की महती आवश्यकता का अनुभव करके काशी-विश्वविद्यालय के हिंदी-विभाग के कतिपय प्राध्यापकों ने उन्हीं की स्मृति में इसकी स्थापना की है। साहित्य के शाश्वत उद्देश्यों की सिद्धि के लिए प्रयास और हिंदी की समीक्षा की गति-विधि का निरीक्षण एवं विकास इसके लक्ष्य हैं।

दो शब्द

प्रस्तुत रचना में कुछ पुराने और कुछ नए लेखों का संग्रह है। नए लेख विषय को संबद्ध एवं पूर्ण बनाने के अभिप्राय से ही लिखे गए हैं। इस प्रकार विषय का प्रसार परिमित होने पर भी अपने ढंग से पूर्ण बन उठा है। 'प्रसाद' जी की कहानियों और तितली उपन्यास पर कुछ लिखना चाहता था पर हो नहीं सका। अतएव चर्वितचर्वण के लिए विवश हो गया। अवश्य ही वांछित समीक्षा तैयार होने पर द्वितीय संस्करण में जोड़ दी जायगी और तभी इस चर्वण-दोष का परिहार हो सकेगा। 'गोदान' का भी केवल विषय-स्थापन भर हो सका है। पल्लवन की क्रिया भविष्य पर छोड़ दी गई है। इसी प्रकार अन्य स्थलों के विषय में भी समझ लेना चाहिए।

रही बात समीक्षा-पद्धति की, तो उसके विषय में केवल इतना ही कहकर रुक जाता हूँ कि यह आलोचना का युग है और आलोचना के अनेक प्रकार-भेद हैं। उन भेदों के स्वरूप-संघटन में समीक्षक की अपनी पकड़ का होना नितांत आवश्यक है। इसके अभाव में सारी समीक्षा ही हवाई तर्ज की हो जाती है और इस तर्ज का अध्ययन-अध्यापन के विचार से विशेष महत्त्व नहीं होता।

अंत में मुझे प्रसन्नता होती है यह स्वीकार करने में कि रचना को इस रूप में प्रकाशित करने की प्रेरणा मेरे मित्र पं० विश्वनाथ-प्रसाद मिश्र ने की और उन्होंने ही छपने-छपाने की पूरी व्यवस्था की। इस सहृदयता के लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ; पर ऐसा तो अनेक बार कह चुका हूँ।

औरंगाबाद, काशी
६-७-१९५०

जगन्नाथप्रसाद शर्मा

There are a sort of blundering half-witted people who make a great deal of noise about a verbal slip.

—J. Dryden : Preface to the Second Part of Poetical Miscellanies.

To expose a great man's faults, without owning his excellencies, is altogether unjust and unworthy of an honest man.

T. Rymer : The Impartial Critic.

Whoever thinks a faultless piece to see, thinks what ne'er was, nor is, nor e'er shall be.

A. Pope : Essay on Criticism.

कुछ प्रमादी और मंदमति लोग ऐसे होते हैं जो किसी वाचिक भूल चूक पर भी बड़ा कोलाहल मचाते हैं।

—ड्राइडन

किसी महान् व्यक्ति की गुणसंपदा को स्वीकार किए बिना उसके दोषों को विवृत करना सर्वथा अनुचित और सत्यशील व्यक्ति के अनुपयुक्त है।

—राइमर

जो कोई भी दोषरहित रचना देखने की कल्पना करता है वह ऐसी वस्तु की कल्पना करता है जिसका अस्तित्व न था, न है और न कभी होगा।

—पोप

सूची

आमुख

भारतेंदु हरिश्चंद्र के पूर्व खड़ी बोली अनेक क्षेत्रों में प्रयुक्त होकर मँज चली थी। भारत के संपूर्ण उत्तराखंड में उसका प्रसार हो गया था। साहित्य-सर्जन का भी अंकुरण हो चुका था। केवल कथा-कहानी और इतिहास की ही रचना नहीं हो रही थी वरन् शुद्ध साहित्यिक कृतियाँ भी प्रकाशित हो रही थीं। बनारस अखबार, सुधाकर, बुद्धिप्रकाश और प्रजाहितैषी ऐसे पत्र भी प्रकाशित हो चुके थे। इस प्रकार गद्यनिर्माण का कार्य आरंभ हो चुका था पर अभी तक उसका अटूट और पूर्णतया व्यवस्थित संघटन नहीं हो पाया था। भाषा के विषय में भी संघर्ष उठ खड़ा हुआ था। दोनों राजाओं की दलादली और शिक्षा के क्षेत्र में शासकों की भेदनीति के कारण उसकी एकस्वरता और एकरूपता में संदेह उत्पन्न होने लगा था। इसलिए भारतेंदु के रचनाकाल में दो समस्याएँ खड़ी हुई—साहित्य की व्यवस्था और भाषा परिष्कार का प्रयत्न।

अपने जीवन के लघु प्रसार में इन दोनों दिशाओं में जो कुछ हरिश्चंद्रजी ने किया वह किसी ने भी किसी युग और साहित्य में नहीं किया होगा। आधुनिक गद्य-साहित्य के प्रवर्तन और उसकी अपनी परंपरा के संघटन में जो योग उन्होंने दिया वह सामान्यतः अलौकिक सा दिखाई पड़ता है। दलादली से पूर्ण हिंदी-उर्दू का जो संघर्ष उनके समय तक बढ़ता चला आया था उसकी ओर उनका ध्यान पहले गया और उन्होंने अपने सक्रिय प्रयोगों से हिंदी भाषा की एक रूपरेखा स्थिर की, साहित्य की विविध रचनाओं में स्वयं प्रयोग करके उसके स्वरूप का पूरा परिष्कार कर

दिया। तत्कालीन लेखकों का जो एक मंडल साहित्य-सर्जना में संलग्न था वह हरिश्चंद्र की भाषा को आदर्श मानता था। उस समय प्रकाशित होनेवाले अनेकानेक पत्रों और पत्रिकाओं में इसी भाषाशैली का प्रयोग होता था। थोड़े में यही कहा जा सकता है कि 'जब भारतेंदु अपनी मँजी हुई परिष्कृत भाषा सामने लाए तब हिंदी बोलनेवाली जनता को गद्य के लिए खड़ी बोली का प्रकृत साहित्यिक रूप मिल गया और भाषा के स्वरूप का प्रश्न न रह गया।'

राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद और राजा लक्ष्मण सिंह के द्वारा अथवा उनके काल में ही साहित्य की सृष्टि आरंभ हो चुकी थी। कथा-कहानी और नाट्य-रचनाएँ सामने आ चुकी थीं। इस प्रकार मार्ग का संकेत मिल चुका था, अवश्य ही वह आमुख-रूप में था और उसकी रूपरेखा भी स्पष्ट नहीं हो पाई थी, अपने युग के कर्णधार और साहित्यिक नेता के रूप में जब भारतेंदुजी आगे आए तो उन्होंने भली भाँति समझ लिया कि जब तक साहित्य-सर्जना का कार्य आंदोलन-रूप में न चलाया जायगा तब तक न तो समाज में हिंदी-साहित्य का प्रभाव ही बढ़ेगा और न गद्य-रचना की नींव ही सुदृढ़ होगी। इसीलिए उन्होंने केवल स्वयं लिखने का बीड़ा ही नहीं उठाया वरन ढूँढ़-खोज कर लिखने-पढ़नेवालों की एक बड़ी मंडली एकत्र की और तत्कालीन हिंदी की संपूर्ण लीलाभूमि से अपना नाता बनाए रखने की पूरी तत्परता दिखाई। परमात्मा की देन की तरह उनकी कुशल बुद्धि ने अवसर की गतिविधि को समझा और देख लिया कि उस समय सैनिक की नहीं, सेनापति की आवश्यकता थी।

फिर तो युगधर्म के अनुरूप चलकर कोई भी नेता सफलता

प्राप्त कर लेता है। भारतेंदु के जीवनकाल में ही हिंदी के प्रसार एवं प्रचार का भव्य रूप दिखाई पड़ गया। लाहौर से लेकर कलकत्ता तक हिंदी की पत्र-पत्रिकाओं से भर उठा, भले ही उनमें से कुछ अल्पजीवी रही हों। उस समय न्यायालयों और संपूर्ण शिक्षा-संस्थाओं में हिंदी के लिए बहुत कुछ किया गया। अतएव हिंदी के पाठकों और प्रेमियों की बड़ी वृद्धि हुई। इसके अतिरिक्त साहित्य के क्षेत्र में तो बाढ़ सी आ गई। विषय और रचना-प्रकार की विविधता का यदि विचार किया जाय तो यह अवश्य ही स्वीकार करना होगा कि भारतेंदु-युग में हिंदी-साहित्य को विकास नहीं, सिद्धि प्राप्त हुई। नवीन पद्धति का—काव्य, नाटक, कथा-कहानी, निबंध और आलोचना—का सूत्रपात भी हुआ और उसमें प्रौढ़ता भी दिखाई पड़ने लगी।

भारतेंदु की अनेकमुखी प्रतिभा ने सभी प्रकार की कृतियाँ प्रस्तुत कीं। काव्य के क्षेत्र में तो वे जन अथवा लोक-साहित्य तक पहुँचें। कबीर और वैष्णव कवियों की पद्धति पर तो उनकी सुंदर कविताएँ हैं ही पर उनकी लावनी-रचना कम महत्त्व की चीज नहीं है। उसी प्रकार गद्य में उनकी नाटकीय कृतियाँ तो प्रसिद्ध ही हैं पर जो गद्य अन्य विविध प्रकारों से भी उन्होंने लिखा है उसका ऐतिहासिक और साहित्यिक महत्त्व है। इस प्रकार जीवन में उन्होंने अपने दोनों दायित्वों का अच्छा निर्वाह किया। 'उन्होंने जिस प्रकार गद्य की भाषा को परिमार्जित करके उसे बहुत ही चलता, मधुर और स्वच्छ रूप दिया, उसी प्रकार हिंदी-साहित्य को भी नए मार्ग पर ला खड़ा कर दिया।'

हिंदी-गद्य के निर्माण में द्वितीय महापुरुष पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी थे। यों तो उन्होंने लिखना ई० सन् १८९४ के पूर्व ही

आरंभ कर दिया था पर उस समय संस्कृत की पद्धति ही उनकी भाषा-शैली पर छाई हुई थी। कालांतर में उनकी लगन, तपस्या और परिश्रम का स्वरूप दिखाई पड़ा। आधुनिक गद्य साहित्य की आज जो अभिवृद्धि हो सकी है अथवा भाषा का जो परिमार्जन और परिष्कार आज मिल रहा है उसका बहुत कुछ श्रेय उन्हीं को है। भारतेंदु-युग की बाढ़ को स्थिर गति पर लाने में द्विवेदीजी ने साधना की थी, भाषा-संबंधी जितना भी लचरपन उनके सामने आया उसकी उन्होंने अच्छी खोज-खबर ली, जहाँ एक ओर वे नवीन लेखकों और कवियों को प्रोत्साहन देकर निर्माण-कार्य में लगाने की चेष्टा करते रहते थे वहीं दूसरी ओर उनकी रचना को समस्त दोषों से बचाने के लिए कठोर नियंत्रण और आलोचना भी करते रहे। इसके अतिरिक्त विभिन्न साहित्यों में जहाँ भी कुछ विशेष बात लिखी उनको मिलती थी उसको हिंदी माध्यम से निरंतर लिख-लिखकर हिंदी के पाठकों को ऊपर उठाने की तपस्या वे जीवन भर करते रहे। यदि उनके संपूर्ण साहित्यिक जीवन का विचार किया जाय तो यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि ई० सन् १९२५ तक हिंदी में उनका राज्य था। वे निर्माता थे, नियामक थे और साथ ही कठोर शासक भी थे। हिंदी की गद्यनिर्मिति में उनके व्यक्तित्व का एक महत्त्व विशेष है।

द्विवेदीजी के साथ ही बाबू श्यामसुंदरदास ने भी अपना साहित्यिक जीवन आरंभ किया था। एक ओर उन्होंने काशी नागरी-प्रचारिणी सभा और हिंदी-साहित्य-संमेलन ऐसी संस्थाएँ स्थापित कीं और दूसरी ओर हिंदी के प्राचीन ग्रंथों की खोज और न्यायालय में नागरी का प्रश्न भी उठाया। इनका कृतित्व ई० सन् १९०० से १९३५ तक मानना चाहिए। इसके भीतर बाबू साहब ने

जिस प्रकार का संमानित स्वावलंबन, साहित्य-साधना और हिंदी के प्रति एक निष्ठता का भाव दिखाया वह अद्वितीय था। गंभीर चिंतन और प्रौढ़ रचना-प्रणाली का जो स्थिर स्वरूप इन्होंने सामने रखा वही कालांतर में स्फुटित होकर साहित्यालोचन का मुख्य माध्यम बनने में सक्षम हो सका। निरंतर एक के बाद दूसरा ग्रंथ निकालने में ही वे लगे रहते थे। विविध विषयों पर अनेकानेक सुंदर रचनाएँ नागरीप्रचारिणी सभा से प्रकाशित होती रहीं और हिंदी-गद्य का भांडार समृद्धिशाली होता गया।

साहित्य-स्रष्टा के अतिरिक्त बाबू साहब के अध्यापन का कार्य-काल बड़े महत्त्व का है। वर्तमान आलोचना के युग का निर्माण उन्होंने ही किया कराया था। उनका व्यक्तित्व गतिशील शक्ति से संपूर्ण था। उनको अनेक यशस्वी कृतिकारों के बनाने का श्रेय प्राप्त था और वे बहुत ऊँचे दर्जे के संगठनकर्ता थे। उन्हीं की अध्यक्षता में हिंदू विश्वविद्यालय ने सर्वप्रथम विधिवत् हिंदी के अध्ययन-अध्यापन की पूर्ण व्यवस्था के लिए हिंदी-विभाग की स्थापना की। पढ़ाई-लिखाई के सर्वोच्च स्तर की रूपरेखा निश्चित करना, उसकी परीक्षा का मानदंड निर्दिष्ट करना और उसके अनुरूप विशिष्ट साहित्यकी निर्मिति उनके अध्यापन-काल की प्रमुख विशेषताएँ हैं। विश्वविद्यालयों के गढ़ का आधिपत्य प्राप्त कर ही आज हिंदी उस सुदृढ़ आधारशिला पर खड़ी हो सकी है जिसके कारण उसे अभिनव निर्माण में योग मिल सका है। इस आधार पर बाबू साहब का कार्य और उसका महत्त्व अपूर्व हो जाता है।

पं० रामचंद्र शुक्ल के व्यक्तित्व और उनकी विभिन्न साहित्यिक कृतियों का आज अत्यधिक प्रभाव दिखाई पड़ता है, क्योंकि यह मुख्यतः आलोचना का युग है और इस क्षेत्र में उन्होंने ही पथ-

प्रदर्शन का कार्य किया है। उनके पूर्व सैद्धांतिक समीक्षा का कोई विहित स्वरूप देखने में नहीं आया था। साथ ही समालोचना का व्यावहारिक प्रयोग भी अत्यंत दुर्बल और क्षीणकाय था। लाला भगवानदीन, पं० पद्मसिंह शर्मा और मिश्रबंधुओं द्वारा स्थापित पद्धति ही चल रही थी। इन आलोचनाओं में तथ्यातथ्य-निरूपण की उस अंतःस्पर्शी मार्मिकता का उद्घाटन नहीं हो सका था जिसको आदर्श मानकर कुछ दूर तक चला जा सकता अथवा जिसका अनुसरण कर समीक्षा की विभिन्न प्रणालियों को बल मिलता। उक्त कृतिकारों में व्यक्तिगत दृष्टि का प्रसार ही अधिक स्फुट हुआ था और इसलिए उन्हें विवेचना का सामान्य मानदंड नहीं बनाया जा सकता था।

शुक्लजी की तुलसीदास, सूरदास और जायसी की विस्तृत समीक्षाओं में सर्वप्रथम समीक्षा का शुद्ध रूप दिखाई पड़ा। इनमें यथास्थान आलोचना के विविध प्रकारों की प्रकृत रूपरेखा सामने आई और उनका तारतमिक स्वरूप एवं उपादेयता समझने में सरलता हो गई। अभी तक कृति से अधिक कृतिकार का दोष-दर्शन होता रहा, पर शुक्लजी ने श्रेष्ठ कवियों की अंतःशायिनी प्रवृत्तियों और उनके संपूर्ण कविकर्म की सहृदयतापूर्ण व्याख्या आरंभ की। इस प्रकार उन्होंने समालोचना-युग के आदर्श अग्रदूत का काम तो किया ही साथ ही विवेचनापरक शास्त्रीय चिंतन का अभिनव महत्त्व भी समझाया। आज जिस स्वच्छंदता से उत्साही समालोचकगण विचरण कर रहे हैं और नित्य नूतन रंगढंग से कृतियों की मीमांसा करने में प्रवृत्त दिखाई पड़ते हैं उसका सारा श्रेय शुक्लजी को ही दिया जायगा। थोड़े में यही कहा जा सकता है कि आधुनिक आलोचना-युग के निर्माता वे ही थे।

आलोचना के अतिरिक्त निबंध-रचना के क्षेत्र में भी उनकी अपनी देन थी। उनके समय तक अनेक यशस्वी निबंध-लेखक हो चुके थे और अपनी-अपनी प्रणाली से उन्होंने गद्यभारती का भांडार भरा था पर जिस ठाठ को लेकर शुक्लजी आगे आए वह विषय और शैली के विचार से सर्वथा नवीन था। उनके पूर्व सामान्यतः सरल एवं व्यावहारिक विषयों पर ही अपनी मौज और तरंग के अनुसार लोग निबंध लिखते रहे। प्रतिपाद्य भी दैनिक जीवन से संबद्ध और प्रतिपादन की पद्धति भी मनोरंजक और सीधी सरल रहती थी। निबंध-रचना के गंभीर स्तर पर ले जाने का श्रेय भी शुक्लजी को ही मिलना चाहिए, सुव्यवस्थित प्रणाली पर व्यक्तिगत विशेषताओं से सर्वथा भरीपूरी भाषाशैली में विचारों को कस-कसकर एक सुनिश्चित क्रमन्यासपूर्वक उपस्थित करने की परिपाटी सर्वप्रथम शुक्लजी ने आरंभ की और उसे साहित्य की एक चीज़ बनाया।

हिंदी की गद्य-रचना के क्षेत्र में जयशंकर 'प्रसाद' और प्रेम-चंदजी के आगमन से साहित्य का महत्त्व बहुत बढ़ गया। 'प्रसाद' की प्रतिभा से पोषित कल्पना और भावुकता ने और प्रेमचंद की युगधर्म से अनुप्राणित लेखनी ने अपनी-अपनी व्यक्तिगत निर्मिति से गद्य की धारा को गतिशील एवं पीनकाय बनाया। दोनों लेखकों के अपने क्षेत्र थे और दोनों में अपना जीवन-दर्शन था, दोनों ने मानव-जीवन को अच्छी तरह देखा था और उनकी वाणी में परिष्कार और बल था। 'प्रसाद' में काव्यतत्त्व प्रबल था और प्रेमचंद में व्यावहारिक जीवन की प्रधानता ही मुख्य थी। जहाँ प्रकृत और यथार्थ का स्पष्ट बोध दोनों में मिलता है वहीं आदर्शों

और आकांक्षाओं के चित्रण में भी दोनों प्रवीण थे, दोनों को साहित्य ने बनाया था और दोनों ने साहित्य को बनाया-सँवारा था। कृतिकारों की ऐसी जोड़ी बड़े सौभाग्य से रचना के क्षेत्र में अवतरित होती है। दोनों में साध्य-साधन की एकस्वरता अवश्य थी पर दोनों में शैलीभेद भी स्पष्ट और मौलिक था, एक होकर भी पृथक् थे।

'प्रसाद' जी में अतीत के अंतराल में प्रवेश करने की अद्भुत क्षमता थी। इस क्षेत्र के विविध चित्रों के मार्मिक उद्‌घाटन और उन्हें सजीव बनाने में उनकी प्रतिभा विशेष रमती थी। उनकी छोटी और बड़ी कहानियाँ इस कथन की पुष्टि करती हैं। 'ग्राम' से लेकर 'सालवती' तक इस प्रकार के चित्र मिलते रहते हैं। आरंभ से ही 'प्रसाद' की यह वृत्ति बल पकड़ती आई थी। 'अशोक' और 'गुलाम' का बीज 'आकाशदीप' और 'सालवती' में पल्लवित हुआ था। इस रचना-प्रसार में कहानियों की अनेक शैलियाँ और विविध भाव-भंगिमाएँ दिखाई पड़ती हैं। 'प्रतिध्वनि' की पद्धति 'आकाशदीप' में नहीं है और 'इंद्रजाल' में और 'आकाशदीप' में शैलीगत साम्य कम है। पर कल्पना एवं भावुकता की प्रमुखता के कारण सभी प्रकार की उक्त कहानियों में काव्यतत्त्व की ही अधिकता है। इस आधार पर यदि विचार किया जाय तो 'प्रसाद' का अपना एक वर्ग है।

कहानियों के लघु प्रसारगामी इतिवृत्त की रचना तक ही 'प्रसाद' की प्रतिभा परिमित नहीं रह सकी। उपन्यासों के व्यापक विस्तार-क्षेत्र में भी वह खुल-खेलती दिखाई पड़ती है। अवश्य ही इतिवृत्त-संघटन की कुशलता 'कंकाल' में कुछ उलझी सी मालूम पड़ती है। वहाँ कथाक्रम के बहुमुखी बन जाने के कारण इतिवृत्ति

की एकरसता कुछ बिखर सी उठी है पर 'तितली' में आकर प्रबंध कौशल सर्वथा संयत और सुगठित दिखाई पड़ता है। इसमें उपन्यास के संपूर्ण अवयवों का पूर्ण विकास संयत और मुखरित हो गया है। तितली के रूप में भारतीय जीवन के आदर्शों और आकांक्षाओं की अच्छी अभिव्यक्ति हुई है। क्रियाकल्प विषयक सभी गुण इस उपन्यास में स्फुट हो उठे हैं। 'इरावती' में आकर तो 'प्रसाद' का प्रसादत्व निखर उठा है, अपूर्ण होकर भी यह रचना लेखक की पूर्णता का अनुमानाश्रित स्वरूप स्पष्ट कर देती है। यदि कृति कहीं पूरी हो जाती तो अवश्य ही जयशंकर 'प्रसाद' उपन्यास-रचना के क्षेत्र में अमर हो जाते, पर उसका वर्तमान रूप-रंग उनकी विषय-पटुता का पूरा प्रतिनिधित्व कर देता है।

कहानियों और उक्त उपन्यासों के अतिरिक्त 'प्रसाद' का विशेष महत्त्व उनके श्रेष्ठ नाटकों के कारण मानना चाहिए। यों तो कुछ मत्सरी और प्रतिद्वंद्वी सामान्य समालोचक इन नाटकों के दोष-दर्शन में ही प्रवृत्त हुए हैं और आत्मघातों की बाढ़ को अभारतीय कह कर मीन-मेष करते हैं, पर बात ऐसी है नहीं। इन युगांतर-कारी नाटकों ने प्राचीन भारत की गौरव-गाथा को प्रभावशाली रूप में उपस्थित कर अपने लक्ष्य की पूर्ति की है और सफलता-पूर्वक अतीत की नाट्य-रचना-पद्धति के मेल में आ गए हैं। इति-हास की पूर्ण संगति, काव्य-भावना का उन्मेष और सजीव जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति के कारण इनकी जितनी भी प्रशंसा की जाय कम है। साध्य-साधन का इतना सुंदर समन्वय अन्यत्र मिलना दुर्लभ ही है। चाहे रस-निष्पत्ति के विचार से वस्तु की विवेचना हो चाहे व्यक्ति-वैचित्र्यवाद के आधार पर देखा जाय इनका महत्त्व किसी रूप में दुर्बल नहीं मालूम पड़ेगा। उत्तर

महाभारतकाल से लेकर हिंदुओं के उत्थान के परवर्ती समय तक का इतना भव्य स्वरूप इतने काव्यात्मक ढंग से किसी ने सामने रखा नहीं। प्राचीन की तुलना में वर्तमान के नवरूप का इतना स्पष्ट चित्रण अपूर्व प्रतिभा और कौशल का कार्य है। इन नाटकों में रस-प्रसार के साथ क्रियाशीलता का पूर्ण सामंजस्य 'प्रसाद' ने बैठाया है। अपनी भाषाशैली, वस्तुविधान और अभिव्यंजन-सौंदर्य की पूर्ण प्रतिष्ठा के द्वारा 'प्रसाद' ने युग-निर्माता का काम किया है।

कथा-साहित्य के निर्माण में प्रेमचंदजी का स्थान बड़ा महत्त्व पूर्ण मानना चाहिए। 'प्रसाद' की तुलना में इनकी कहानियों ने अधिक प्रसार पाया। इनके पाठक अधिक भी थे और लिखा भी उन्होंने अधिक। जन-जीवन की वास्तविक और अनुभूतिपूर्ण अवतारणा के कारण इनकी कहानियाँ जन साधारण को अधिक प्रिय प्रमाणित हुई। साधारण जन के जीवन और जगत् की कौटुंबिक और सामाजिक विविध घटनाओं और परिस्थितियों का चित्रण ही उन कहानियों की विशेषता है। इस प्रकार की रचना के जितने भी अवयव हैं उनका अच्छा संघटन प्रेमचंद में मिलता है। उनके वस्तुविधान में भारतीय जीवन के अनुभूतिमूलक स्वरूप की बड़ी प्रकृत अभिव्यंजना हुई है। इस देश के क्षीण-काय नागरिकों और पीड़ित ग्रामीणों को ही प्रेमचंद ने अपना विषय बनाया। उनकी सामाजिक एवं व्यक्तिगत हीनताओं और दैन्य का कारुणिक तथा सहृदयतापूर्ण वर्णन तो उन्होंने किया ही पर उनकी भावनाओं और आकांक्षाओं की ओर संकेत करना भी वे भूले नहीं। इसीलिए उनके वस्तुप्रसार में संघर्ष एवं जीवन भरा मिलता है। मानव-सुलभ चारित्र्य-दोष जहाँ अंकित किया गया है वहाँ उसके आधारभूत कारण की भी आलोचना की गई है। इस

प्रकार अपनी कहानियों को प्रेमचंद ने भारत की वर्तमान कहानी बनाया है। उनकी साहित्यिक कृति में यही अपनापन विशेष है।

लघु इतिवृत्तों के अतिरिक्त उपन्यास के विस्तृत क्षेत्र में उतर कर उन्होंने जीवन के संश्लिष्ट और नानामुखी स्वरूप की प्रतिष्ठा में भी पूरी सफलता प्राप्त की थी। लेखक अपने समय का सर्वोत्तम प्रतिनिधि होता है इस कथन की यथार्थता के अच्छे उदाहरण प्रेमचंद थे। उनकी कहानियों और उपन्यासों को साक्षीरूप में रख कर यदि कोई तत्कालीन भारत का इतिहास लिखे तो संपूर्ण राजनीतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक विवरण उसे मिल सकते हैं। इस समय का सारा ढाँचा दो पक्षों में बँटा था—ग्राम और नगर, धनिक एवं दरिद्र। दोनों का अपना-अपना स्वरूप और अपनी-अपनी कथा थी। दोनों में संतुलन की महती आकांक्षा ही लक्ष्य था प्रेमचंद के साहित्य का। उन्होंने समान सहानुभूति के साथ दोनों पक्षों का चित्रण किया और दोनों को समझने-समझाने का अवसर दिया था। अपने सभी उपन्यासों में उन्हीं दोनों द्वंद्वों को उन्होंने सामने रखा था। उनके भीतर बाहर का पूरा अंतर्भेद उन्होंने उपस्थित किया था और उनकी सर्वांगीण परीक्षा की थी। यों तो वस्तु-निर्वाचन के विचार से उनका विषय एकदेशीय और परिमित कहा जा सकता है पर अनेक उपन्यासों में अवतरित होने के कारण उसमें संपूर्णता और विविधता आ गई थी।

प्रेमचंद के 'रंगभूमि', 'कर्मभूमि', 'प्रेमाश्रम' एवं 'गोदान' में एक ही वस्तु, एक ही प्रकार का वर्गविभाजन, एक ही प्रकार का जीवन था और उसकी समस्या भी एक ही थी। इस दृष्टि से प्रेमचंद की कृतियाँ नवनवता के पूर्ण उन्मेष से विहीन थीं। विषय संबंधी यह एकांगिता अवश्य खटकती है पर अपनी इस परिमिति

जन्म १६०७] भारतेंदु हरिश्चन्द्र [निधन १६४१

भारतेंदु हरिश्चंद्र

१. भारतेंदु-युग
२. भारतेंदु के नाटकों में युगधर्म
३. चंद्रावली नाटिका

१

भारतेंदु-युग

कीर्तिस्तंभ व्यक्ति किसी काल-विशेष की प्रमुख प्रवृत्तियों के प्रधान प्रवर्तक हुआ करते हैं। इस कोटि के विशिष्ट व्यक्तियों की पुण्यस्मृति अक्षुण्ण रूप में अनंत काल तक समाज के हृदय में स्थापित रहती है। युग विशेष की प्रवृत्तियों के वृद्धिक्रम के अनुसार उनके प्रवर्तक का यश भी विभिन्न क्षेत्रों में धवलित होता जाता है। यह कथन साहित्य में भी उसी प्रकार महत्त्व का है जिस प्रकार सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक जगत् में। मानव-बुद्धि, भावनाओं तथा चरित्र के परिष्कार के साथ-साथ रुचि-अरुचि में भी परिवर्तन होता चलता है। किसी काल में देश-व्यापी विशेष परिस्थितियों के घात-प्रतिघात से समाज में सर्वथा नवीन प्रकार की भावनाएँ और विचार भर जाते हैं। फिर क्रमशः मानव-मनोवेगों के योग से ही भावनाएँ स्थिरता प्राप्त करती हैं और इस प्रकार नवीन संस्कारों की नींव पड़ती है। समय-समय पर जो विशिष्ट बुद्धि के मनोयोगी समाज की परिचालना के निमित्त अवतीर्ण होते हैं वे इन विशेष परिस्थितियों के मूल में निहित मानव-भावनाओं के शुद्ध स्वरूप को समझने की चेष्टा करते हैं। इस चेष्टा में सफलता प्राप्त कर लेने पर अपने व्यक्तिगत जीवन को उन्हीं भावनाओं से परिष्कृत कर एक आदर्श मार्ग का निर्माण

कर लेते हैं। समाज अपनी प्रवृत्तियों के अनुरूप इस आदर्श मार्ग को पाकर उत्साहपूर्वक उसपर चलता है और प्राचीन परंपराओं एवं रूढ़ियों के मूल में बैठी हुई भावनाओं का दृढ़ता-पूर्वक त्याग कर देता है। इस प्रकार का परिवर्तन तथा संशोधन एक-दो दिनों में नहीं होता। इसके लिए समय अपेक्षित होता है। जो महापुरुष जितने ही थोड़े समय में व्यापक परिवर्तन उपस्थित कर सकता है उसका व्यक्तित्व उतना ही महत्त्वपूर्ण समझना चाहिए।

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्रजी इसी प्रकार के महापुरुषों में थे। उन्होंने अपनी कुशल बुद्धि तथा मनोयोग से थोड़े समय में ही हिंदी साहित्य में व्यापक परिवर्तन उपस्थित कर दिया। महाकवि टेनिसन के अनुसार उन्होंने भी समझ लिया कि कोई भी परंपरा और रूढ़ि यदि अपनी आयु से अधिक जीवित रहती है तो उसका सौंदर्य कुरूपता में तथा उपयोगिता अमंगल में परिवर्तित हो जाती है। अतएव समयानुकूल परिस्थिति के अनुरूप ही साहित्य को अपनी परंपराओं और रूढ़ियों के नए साँचों में ढाल कर सर्वथा नूतन बना लेना चाहिए, इसी में कल्याण है। उन्होंने भली भाँति समझ लिया कि शृंगार-रस-प्रधान कविताएँ रीतिकाल की परंपराओं और रूढ़ियों के अनुसार कई सौ वर्षों तक चल चुकी हैं। वे अपने यौवनकाल में बड़ी प्रिय भी थीं। समाजिक वातावरण उनके अनुरूप था, इसलिए उनकी बड़ी चाह थी और उनमें विशेष सौंदर्य और आकर्षण था। परंतु इस समय तक आते-आते साहित्यिक परिवर्तन आवश्यक मालूम पड़ने लगा, क्योंकि राजनीतिक स्थिति, धार्मिक भावनाओं एवं सामाजिक प्रथाओं में घोर परिवर्तन आरंभ हो गया था। साथ ही उन्होंने यह देख लिया कि अब केवल कविता से काम नहीं चल सकता क्योंकि कविता

केवल भावों के परिष्कार और उद्दीपन में ही सहायक हो सकती है। व्यावहारिक क्षेत्र में गद्य के बिना निर्वाह संभव नहीं। अतएव भारतेंदु ने कविता के साथ साथ गद्य-साहित्य की अभिवृद्धि का प्राधान्य स्वीकार कर लिया। फिर तो अपने छोटे से जीवन में उन्होंने इस सिद्धांत का निर्वाह बड़ी ही तत्परता, विश्वास तथा अध्यवसायपूर्वक किया। परिणाम-रूप में उनके जीवन-काल ही में गद्य-साहित्य का भांडार शीघ्रता से परिपूर्ण होने लगा। उनके समकालीन कितने ही यशस्वी लेखकों ने उनका उत्साह देखकर सक्रिय रूप में साथ दिया। पत्र-पत्रिकाएँ निकलने लगीं, और अनेक नाटक भी लिखे गए। उपन्यास और निबंध की ओर भी लोगों की प्रवृत्ति बढ़ी। आलोचना का भी सूत्रपात उसी समय से मानना चाहिए। इस प्रकार अपने अनवरत अध्यवसाय का फल अपने जीवन- काल में ही उन्होंने देख लिया। कविता के क्षेत्र में भी उन्होंने परिवर्तन उपस्थित किया। केवल पुरानी रूढ़ियों के अनुसार शृंगार-रस-प्रधान कविताएँ ही उस समय नहीं लिखी गईं, वरन् ऐसी रचनाएँ भी उसी समय होने लगीं थीं जिनका विकसित रूप आज वर्तमान है।

भावपक्ष में परिवर्तन और रचना की नूतन विधियों की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित करने के अतिरिक्त उन्होंने भाषा का जो परिष्कार किया वह विशेष कार्य मानना चाहिए। उनके पूर्व मुंशी सदासुख लाल और इंशाअल्ला खाँ के समय से ही भाषाशैली के दो रूप चले आ रहे थे। उनके समय में भी राजा लक्ष्मण सिंह और राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद के दो भिन्न-भिन्न रूप दिखाई पड़ते थे। एक रूप उर्दूपन लिए हुए था और दूसरा संस्कृत की तत्समता से युक्त हिंदी का था। यह विभिन्नता क्रम से बढ़ती हुई

विरोध मूलक संघर्ष का रूप धारण कर रही थी। भारतेंदु को यह बात खटकी। उन्होंने समझ लिया कि यदि किसी पक्ष-विशेष का सर्वथा ग्रहण और दूसरे का त्याग किया जायगा तो सब पक्षों का समाधान नहीं हो सकेगा। अतएव कल्याण इसी में है कि मध्यम मार्ग का अनुसरण किया जाय जिससे भाषा का व्यावहारिक रूप भी स्थिर हो जाय और वाक्य-योजना से उर्दू-फारसीपन निक-लकर शुद्ध हिंदीपन चलने लगे। ऐसा विचार कर उन्होंने भाषा के उस रूप को अपनाया जिसका विकसित और परिमार्जित रूप इधर मुंशी प्रेमचंद प्रभृति लेखकों में स्पष्ट दिखाई पड़ता है।

सर्जना साहित्य के धारा-प्रवाह में परिष्कार एवं नियंत्रण के अतिरिक्त उन्होंने समाज-पक्ष में भी अपना स्थायी प्रतिनिधित्व स्थापित किया। कठोर और सच्चे आलोचक की भाँति उन्होंने सामाजिक कुप्रथाओं तथा दुर्बलताओं का स्पष्ट उद्घाटन कर हमें अपनी त्रुटियों की ओर देखने-समझने को बाधित किया। धार्मिक तथा सामाजिक पक्ष में हमारा कितना पतन हो चुका है इसकी ओर उन्होंने ही हमारा ध्यान आकर्षित किया। धर्म में कितना पाखंड औ अविचार घुस पड़ा है इसका चित्रण उन्होंने 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में किया है। न्याय में जब मूर्खता का समावेश हो जाता है तब उसका कितना हास्यास्पद रूप हो जाता है इसका रूप उन्होंने 'अंधेर-नगरी' में दिखाया है। राजनीतिक पक्ष में हमारी क्या वास्तविक परिस्थिति है, हम कितने भयाकुल और दबे हुए हैं, विदेशी शासन किस प्रकार व्यवस्था की आड़ में हमारे स्वत्वों और धनधान्य का नाश करता जाता है इसका रहस्य उन्होंने 'भारतदुर्दशा' नाटक में स्पष्ट रूप से चित्रित किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेंदु ने बड़ी ही निर्भयता से

अपनी समकालीन अवस्थाओं का चित्रण और आलोचन किया है। उनके जीवनकाल में उनके समान निर्भय होकर 'नारि नर सम होहिं', 'स्वत्व निज भारत गहै,' 'कर दुख बहै' इत्यादि वाक्य कहता हुआ कोई नहीं दिखाई देता था। यह विशेषता उनके जीवन को विशिष्ट महत्त्व प्रदान करती है। सारांश यह है कि अपने पंद्रह वर्षों के सामाजिक एवं साहित्यिक जीवन में साहित्य तथा समाज का जितना कल्याण भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ने किया उतना संसार का कोई भी साहित्यसेवी नहीं कर सका होगा।

हिंदी-गद्य-साहित्य का वह काल, जिसमें भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ने और उनके अन्य अनेक समसामयिक प्रतिभाशाली लेखकों ने अपनी नवोन्मेषिणी रचनाएँ प्रकाशित कीं, बड़ा ही महत्त्वपूर्ण था। इसी समय प्राचीन काल से चली आती हुई परंपरा का अंत हुआ। रीतियुग में विषय-निर्वाचन का जो संकोच साहित्य के क्षेत्र में प्रसरित दिखाई पड़ा था वह यहाँ तक अविच्छिन्न रूप में आया। विषय की अनेकरूपता के अभाव के साथ-साथ अभिव्यंजना पद्धति और भाषा में भी एकांगिता घुस आई थी। इस प्रकार साहित्य का सारा क्षेत्र संकुचित हो गया था। हरिश्चंद्र-काल ने हिंदी-साहित्य में नवोन्मेष के लिए व्यापक भूमि प्रस्तुत कर दी।

अँगरेजी राज्य के स्थापित होने के उपरांत भारतवर्ष की सांस्कृतिक धारा में नया बल और नए पोषक तत्वों का समावेश होने लगा था। धीरे-धीरे इस नवीन परिवर्तन का प्रभाव देश के सभी क्षेत्रों और अंगों पर दिखाई पड़ा। राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक जीवन पर तो नवीनता का रंग चढ़ने ही लगा था, पर साहित्य में तो उसका रूप क्रांतिकारी बन गया था। इसके पहले

हिंदी-साहित्य एक पैर पर खड़ा था और वह पैर भी रक्त-संचार की मलिनता तथा अस्वस्थता के कारण दुर्बल एवं अशक्त हो चला था। नवीन रक्त-संचार के अभाव में शरीर के विभिन्न अवयव जैसे वृद्धता के रोग से ग्रस्त हो जाते हैं उसी प्रकार साहित्य का यह एक पैर भी जो पद्य-रूप में दिखाई पड़ रहा था, अब उखड़ चला था। अतएव इस पैर में नवीन रक्त उत्पन्न करने की और साथ ही दूसरे पैर के गढ़ने की व्यवस्था आवश्यक हो गई थी।

हरिश्चंद्रजी ने अपने जीवन-काल में पद्य के स्वरूप में विशेष परिवर्तन नहीं किया। नवीन विषयों की ओर संकेत करके उन्होंने उनकी अभिव्यंजना-पद्धति में नवीनता का केवल आभास भर दिया। यही कारण है कि उसकाल में भी कहीं-कहीं रीतियुग की क्षीण-हीन कलेवरा नायिकाएँ भी अपनी वृद्धता का दुर्गम-भार वहन करती हुई हिलती-डोलती दिखाई पड़ती हैं। इनके अतिरिक्त उनके अन्य सहयोगी और उद्दीपक भी जीवनहीन होकर अस्त-व्यस्त रूप में रह गए थे। अपने काल के सर्वोत्तम प्रतिनिधि भारतेंदु ने जीवन को उन प्राचीन नायिकाओं के चंगुल से मुक्त करके, उन्हें रूढ़ फुलवारी और वाटिकाओं से निकालकर बाहर किया। भक्ति एवं प्रेम के कल्पना-लोक और संयोग-वियोग के संघर्ष से दूर हटाकर उन्होंने अपने जीवन को व्यवहार की सामान्य भूमि पर भी लाकर खड़ा करने का उद्योग आरंभ कर दिया। परंपरा-गत भावों तथा विषयों पर रचनाएँ तो चलती ही रहीं, उन्होंने अपनी समसामयिक स्थितियों और विषयों की ओर भी ध्यान दिया। कविता में खड़ी बोली का प्रयोग करके इस बात का भी उन्होंने संकेत कर दिया कि यदि चेष्टा की जाय तो इस भाषा का भी काव्योचित संस्कार किया जा सकता है। जहाँ

उन्होंने परंपरा के अनुसार प्रेम-तरंग, प्रेम-माधुरी, सतसई-शृंगार, दानलीला, बसंत और होली ऐसे विषयों को लेकर प्राचीन पद्धति पर अनेकानेक रचनाएँ प्रतुत कीं वहीं अपने वर्तमान से सबद्ध विभिन्न विषयों पर भी सरस कविताएँ लिखीं। श्रीराजकुमार-सुस्वागत-पत्र, विजयिनी-विजय-वैजयंती, रिपनाष्टक, श्रीजीवनजी महाराज शीर्षक समसामयिक विषयों पर भी उन्होंने कविताएँ बनाईं साथ ही राष्ट्र-गौरव गान भी उन्होंने लिखे जो कि समय के विचार से, आगे थे। उनमें आत्म-गौरव, देशप्रेम और जागरण की भावनाओं का स्थिर रूप दिखाई पड़ा। भारत-वीरत्व, जातीय-संगीत और भारतभिक्षा इत्यादि रचनाएँ इसी प्रकार की हैं। इसके अतिरिक्त अपने समकालीन भाषा-द्वंद्व का वर्णन और कथन करके उन्होंने समय की सच्ची और महत्त्वपूर्ण घटना की आलोचना की है। 'उर्दू का स्यापा' और 'हिंदी की उन्नति पर व्याख्यान' इस प्रकार की रचनाओं के अंतर्गत हैं। भारतेंदु का प्रकृति-निरीक्षण और वर्णन यों तो प्रायः परंपरागत और नागरिकता से ही पूर्ण है परंतु निवेदन-पद्धति और पदावली के विचार से कहीं-कहीं उसमें भी नवयुग के बीज लक्षित होते हैं। 'प्रात-समीरन' शीर्षक कविता में इसका स्पष्ट आभास मिलता है।

[गद्य के क्षेत्र में उनका विशेष महत्त्व मानना चाहिए। उनके पूर्व भाषा का द्वंद्व चल रहा था। आरंभ में ही यह द्वंद्व इंशाअल्ला खाँ और मुंशी सदासुख लाल में प्रकट हो चुका था। इसके उपरांत राजा लक्ष्मणसिंह और राजा शिवप्रसादजी के समय में इसने संघर्ष का रूप पकड़ा। भारतेंदु और उनके समकालीन अन्य लेखकों के सामने यह प्रश्न आया कि इस द्वंद्व की व्यवस्था होनी चाहिए। हिंदी-साहित्य में यह परिवर्तन और क्रांति का युग था।

इस समय भाषा जिस ढर्रे पर चल पड़ेगी उसका प्रभाव अवश्य ही भविष्य के रूप-गठन पर पड़ेगा इस गंभीरता को बाबू हरिश्चंद्र जी ने समझा और इन्होंने अपने को तात्कालिक संघर्ष में न डाल-कर एक नवीन मार्ग का अनुसरण किया। राजा शिवप्रसादजी की प्रवृत्ति धीरे-धीरे फारसीपन की ओर बढ़ती वे देख रहे थे। राजा लक्ष्मणसिंह के साथ ईसाई धर्म-प्रचारकों की रुचि भाषा की विशु-द्धता की ओर थी। आगे चलकर तो राजा शिवप्रसाद में फारसी-पन अत्यधिक बढ़ा। वह केवल शब्दों तक ही परिमित न रहा। उनकी वाक्य-योजना, संधि-समास और अन्य व्याकरण-संबंधी नियमों के पालन तक में फारसीपन दिखाई पड़ने लगा। दूसरी ओर राजा लक्ष्मणसिंह और ईसाइयों ने पछाँही अथवा प्रांतीय और चलते ग्रामीण तद्भव शब्दों तक को अपनाना तो स्वीकार कर लिया परंतु फारसी-अरबी के शब्दों और उनके शासक नियमों को सदैव बचाते रहे। इस प्रकार भाषा का यह द्वंद्व दृढ़ रूप पकड़ने लग गया था।

भारतेंदु ऐसे प्रतिभासंपन्न और दूरदर्शी व्यवस्थापक ने समझ लिया कि ऐसे कठिन समय में इस प्रकार की खींचतान हानिकर ही सिद्ध होगी; साथ ही किसी एक पक्ष को स्वीकार करने से दूसरा पक्ष विरोधी बन जायगा। ऐसी अवस्था में उनके द्वारा स्थापित भाषा-प्रयोग का मध्यम मार्ग बड़ा मंगलकारी तथा व्यावहारिक सिद्ध हुआ। आगे चलकर गद्य की उनकी बहुमुखी रचनाओं में इसी शैली का व्यापक ढंग से उपयोग हुआ। उस समय के अन्य लेखकों ने भी प्रायः उन्हीं का अनुकरण किया। यों तो उस समय भी भाषा-द्वंद्व पूर्ण रूप से समाप्त नहीं हो सका परंतु उसने किसी प्रकार का कोई उग्र रूप नहीं धारण किया;

इसलिए कि अधिकांश रचनाओं में इसी मध्यम मार्ग के सिद्धांत का अनुसरण दिखाई पड़ता है। इसका संपूर्ण श्रेय भारतेंदु को मिलना चाहिए। उनका प्रभाव तत्कालीन लेखक-मंडल पर स्पष्ट दिखाई पड़ता है। इस प्रकार उनका भाषा-संबंधी परिष्कार गद्य-शैली के निर्माण में बड़ा अनुकूल रहा।

भाषा-संबंधी संस्कार के अतिरिक्त गद्य-साहित्य की रूपरेखा प्रस्तुत करने और उसकी जड़ जमाने में भारतेंदु का बड़ा हाथ था। उनके पूर्व गद्य में प्रस्तावना-रूप से केवल कुछ स्कूली-पुस्तकें चल रही थीं और कुछ धार्मिक-पौराणिक आख्यानों का रूप दिखाई पड़ रहा था। गद्य-रचना के इस व्यावहारिक रूप के अतिरिक्त शुद्ध साहित्य के क्षेत्र के भीतर आनेवाली रचनाएँ प्रायः नहीं थीं। ऐसे समय में हरिश्चंद्र ने अनेक विषयों पर स्वयं लिखा और निरंतर इस बात का प्रयास करते रहे कि नवीन लेखकों की सृष्टि हो और शीघ्र हिंदी-गद्य का बहुमुखी रूप सामने आ जाय। तत्कालीन साहित्य-निर्माण पर उनके उत्साह और प्रेरणा का बड़ा प्रभाव पड़ा। उनके साथ लेखकों का एक मंडल तैयार हो गया। उसमें अनेक प्रतिष्ठित लेखक ऐसे थे जो भारतेन्दुजी को आदर्श मानकर साहित्य-सर्जन में उन्हीं का अनुकरण करते थे। इस प्रकार उस लेखक-मंडल के अग्रणी भारतेंदुजी बने। उस समय के लिखनेवालों में बालकृष्ण भट्ट, सुधाकरजी, प्रतापनारायण मिश्र, सीताराम, बदरीनारायण 'प्रेमघन', जगमोहन सिंह, श्रीनिवासदास, केशवराम भट्ट, राधाचरण गोस्वामी, अंबिकादत्त व्यास प्रभृति थे। इनके अतिरिक्त गोविंदनारायण मिश्र, देवकीनंदन खत्री, गोपालराम गहमरी, किशोरीलाल गोस्वामी, रामकृष्ण वर्मा, गदाधरसिंह, राधाकृष्णदास, लक्ष्मीशंकर मिश्र इत्यादि

भावी लेखकों का उदय तथा उद्बोधन उसी काल में मानना चाहिए। इसके उपरांत तो लेखकों और रचना-विधाओं की परंपरा चल पड़ी। भारतेंदु से प्रवाहित गद्य की वही सुधा-धारा उत्तरोत्तर अखंड एवं पीनकाय बनती गई।

भारतेंदु के समय तक छापाखानों की स्थापना अच्छी तरह हो गई थी। धार्मिक और स्कूली पुस्तकों का प्रकाशन चल ही रहा था। अँगरेजी और बँगला में समाचार-पत्र निकल रहे थे। उनके महत्त्व को सभी हिन्दीवाले समझ रहे थे और उनके व्याव-हारिक उपयोग तथा प्रभाव का सभी अनुभव कर रहे थे। छापाखानों और समाचारपत्रों के द्वारा कितना काम हो सकता है इसका ज्ञान हिंदी के प्रवर्तक और अनुयायियों को तुरंत हो गया। भारतेंदु की बाल्यावस्था में ही 'बनारस अखबार' (सन् १८४५ ई०) गोविंद रघुनाथ थत्ते के संपादन में, 'सुधाकर' (सन् १८५० ई०) तारामोहन मित्र के संपादन में और 'बुद्धिप्रकाश' (सन् १८५२ ई०) आगरावाले सदासुख लाल के संपादन में निकल चुके थे। जब भारतेंदुजी साहित्य-क्षेत्र में आए उन दिनों एक बार कुछ वर्षों के लिए समाचार-पत्र बंद हो गए थे। उन्हें यह अभाव खटका और उन्होंने सबसे पहले 'कवि-वचन-सुधा' (सन् १८६८ ई०) को निकालना आरंभ किया। इसमें पहले केवल कविताओं का संग्रह निकलता रहा, परंतु पीछे गद्य-लेखों को भी स्थान दिया जाने लगा। पहले यह पत्रिका मास में एक बार, फिर दो बार और पीछे साप्ताहिक रूप में निकलने लगी। आगे चलकर उन्होंने 'हरिश्चंद्र मैगज़ीन' (सन् १८७३ ई०) पत्रिका निकालनी आरंभ की जो आठ संख्याओं के उपरांत 'हरिश्चंद्र-चंद्रिका' के नाम से प्रकाशित होने लगी। भारतेंदु को स्त्री शिक्षा और उनके सुधार की

विशेष चिंता रहती थी। समाज में नारी-महत्त्व को समझाने और उनकी बौद्धिक उन्नति के विचार से उन्होंने एक पत्रिका 'बालाबोधिनी' (सन् १८७४ ई०) भी निकालनी आरंभ की।

इन पत्र-पत्रिकाओं के साथ-साथ अन्य उत्साहियों ने भी विभिन्न स्थानों से अन्य समाचार-पत्र निकाले। सदानंद सनवाल ने सन् १८७१ ई० में अलमोड़ा से 'अलमोड़ा-अखबार', कार्त्तिक प्रसाद खत्री ने सन् १८७२ ई० में कलकत्ते से 'हिंदी-दीप्ति-प्रकाश', केशवराम भट्ट ने उसी साल विहार से 'विहार-बंधु' और श्री निवासदास ने दिल्ली से सन् १८७४ ई० में 'सदादर्श' निकाला। इसके उपरांत तो अनेकानेक पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित होने लगीं। सन् १८७६ ई० और सन् १८८५ ई० के भीतर प्रायः पचीस-तीस समाचार-पत्र और ऐसी पत्रिकाएँ प्रकाशित होने लगीं जिनमें समाचारों के अतिरिक्त विभिन्न विषयों पर छोटी-छोटी टिप्पणियों के साथ निबंध इत्यादि अन्य साहित्यिक रचनाएँ भी निकला करती थीं। इन पत्र-पत्रिकाओं में अधिकांश तो अल्पजीवी थीं जो कुछ दिन चलकर समाप्त हो गईं, परंतु उनमें कुछ ऐसी भी थीं जो कुछ दिनों तक लगातार प्रकाशित होती रहीं, जैसे—ब्राह्मण, आनंदकादंबिनी, हिंदी-प्रदीप, उचितवक्ता, भारत-मित्र और विहार-बंधु इत्यादि तो कई वर्षों तक प्रकाशित होते रहे। इनमें प्रथम तीन पत्र तो शुद्ध साहित्यिक थे जिनसे हिंदी के आरंभिक निबंधों और समालोचनाओं का उद्भव मानना चाहिए। इस विचार से इनका अपना ऐतिहासिक महत्व है।

ये समाचार-पत्र और पत्रिकाएँ भारतवर्ष के संपूर्ण उत्तराखंड में फैली थीं। लाहौर से कलकत्ता और उदयपुर, अजमेर तथा

जबलपुर तक इनकी धूम मच गई। 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' वाली बात चरितार्थ हुई। इतने व्यापक उत्साह और विस्तार के साथ जिस महत् उदय का प्रस्ताव हो उसकी सफलता पर संदेह नहीं किया जा सकता। हिंदी के प्रसार के लिए यह अवसर अवश्य ही अत्यंत अनुकूल था। इन पत्र-पत्रिकाओं के अतिरिक्त ईसाइयों और आर्यसमाज का जो प्रचार-कार्य चल रहा था उसने भी हिंदी के विस्तार में पूरा योग दिया। तर्क-वितर्क, वाद-विवाद, भाषणों और उपदेशों में प्रयुक्त होकर हिंदी भाषा का बल उत्तरोत्तर बढ़ने लगा। उसमें परिमार्जन, प्रवाह, स्थिरता, व्यंजना-सौंदर्य और ग्रहण-शक्ति का संचय होने लगा। उसके संपूर्ण अवयव पुष्ट होने लगे और उसकी स्फुरण-शक्ति भी निरंतर बढ़ती गई। इस प्रकार भाषा के संस्कार और अभिवृद्धि के लिए तो बहुत-कुछ शीघ्र ही हो गया।

यह तो हुई भाषा के संबंध की बात, अब साहित्य और उसके विषय-पक्ष की स्थिति का विचार करना चाहिए। भारतेंदु के पूर्व जो कुछ लिखा गया था वह तो प्रस्तावना मात्र था। यथार्थतः विषय के विचार से उसका विशेष महत्त्व नहीं है। हाँ-भाषा का वृद्धिक्रम स्थापित करने के लिए उसकी आवश्यकता पड़ती है। उस समय तक स्कूली पुस्तकें और अन्य विषयों पर जो कुछ लिखा गया था उसमें केवल विषय प्रवेश भर दिखाई पड़ता था। हिंदी के गद्य-साहित्य का वास्तविक उदय हरिश्चंद्र-काल में ही चाहिए। शुद्ध साहित्य की कोटि में आनेवाली रचनाएँ इसी काल में आरंभ हुईं। यों तो रानी केतकी की कहानी नासिकेतोपाख्यान आदि के रूप में कहानी और उपन्यास की रचना भारतेंदु के पूर्व ही आरंभ हो गई थी परंतु अटूट रूप में

विविध विषयों की रचनाएँ उन्हीं के समय में निकलीं। स्वयं हरिश्चंद्रजी ने अनेक विषयों पर लिखा और अपने उद्योग तथा प्रेरणा से न जाने कितनी चीजें तैयार कराईं। इनके समय के लेखक-मंडल ने नाटक, उपन्यास, निबंध इत्यादि साहित्यिक विषयों पर इतना अधिक लिखा कि कुछ काल के भीतर ही दुर्बलकाया गद्य-सरिता पूर्णभरिता और प्रवाहशीला बन गई।

उस युग की जैसी अपनी कुछ प्रवृत्तियाँ थीं उसी प्रकार कुछ विशेषताएँ भी थीं। भारतेन्दु के साथी प्रायः सभी लेखक किसी न किसी पत्र के संपादक थे। उनको प्रति सप्ताह, प्रतिपक्ष अथवा प्रतिमास इतना अवश्य ही लिखना पड़ता था कि उनकी पत्रिका का पेट भर जाता। इन पत्र-पत्रिकाओं में सभी प्रकार की रचनाओं के नमूने मिलते हैं; कहीं समाचार-संग्रह, कहीं हास्य-विनोद कहीं निबंध, कहीं आलोचना। ऐसी अवस्था में इन संपादक-लेखकों को विविध विषयों पर कुछ तुरंत लिखने की क्षमता अपने में बनाए रखनी पड़ती थी। यही कारण है कि इनमें उत्साह और सजीवता तो अत्यधिक दिखाई पड़ती थी, परंतु विषय-प्रतिपादन में गंभीरता एवं परिमार्जन नहीं मिलता। इसके लिए उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता क्योंकि न तो उस काल में इसकी आवश्यकता थी और न विकास-क्रम के विचार से यह प्रकृत ही ज्ञात होता। इस काल का एक मात्र ध्येय यह था कि साहित्य के सभी रचना-प्रकारों का रूप खड़ा हो, भाषा का लिखित और सामान्य रूप विस्तार पाए और लोगों में साहित्य का आरंभिक बोध तथा प्रेम उत्पन्न हो। अपने इस ध्येय की पूर्ति में यह लेखक-मंडल बड़े उत्साह से लगा था। उस समय हरिश्चंद्र-मंडल के प्रमुख लोग थे—प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बदरी नारायण उपाध्याय

'प्रेमघन', तोताराम, जगमोहन सिंह, लाला श्रीनिवासदास, अंबिका-दत्तव्यास, केशवराम भट्ट, राधाचरण गोस्वामी। यह लेखक-मंडल प्रतिभा-संपन्न, उत्साही और लिखने में सिद्ध था। इन लेखकों की यह प्रधान विशेषता थी कि इनकी रचनाओं में अपना निरालापन और सजीवता रहती थी। भाषा में कहीं-कहीं प्रांतिकता और दोष रहने पर भी प्रवाह और व्यावहारिकता सदैव बनी रहती थी। ये लोग साधारण, चलते और व्यावहारिक विषयों पर बड़ी अनुरंजनकारी और सुसंबद्ध रचनाएँ तैयार करते थे। विषय की व्यावहारिकता के साथ-साथ वस्तु-निवेदन का ढंग भी सरल एवं व्यक्तित्व-पूर्ण होता था।

हरिश्चंद्र-काल के भीतर तीन प्रमुख बातें हुईं। भाषा का संस्कार साहित्य का रूप खड़ा करने का सर्वोत्तम साधनथा। इसको संघर्ष और अनिश्चितता के अंधकार में से बाहर निकालकर लोकक्षेत्र में स्थिर और व्यवस्थित रूप से स्थापित करने का संपूर्ण श्रेय भारतेंदु को है। उन्होंने नाटकों एवं अन्य विभिन्न प्रकार की साहित्यिक रचनाओं में उसका प्रयोग करके उसकी व्यावहारिकता का अच्छा प्रयोग सिद्ध किया। उनकी इस उद्देश्यपूर्ण चेष्टा का प्रभाव तत्कालीन अन्य सभी लेखकों पर अच्छा पड़ा। अधिकांश रचनाएँ एक-सी भाषा में प्रकाशित हुईं। भाषा का यह शिष्ट, सामान्य और प्रचलित रूप आगे चलकर निरंतर व्यवहृत होता रहा। कुछ दिनों के उपरांत वही रूप निखरकर और परिमार्जित होकर देवकीनंदन खत्री प्रभृति लेखकों से समादृत होता हुआ प्रेमचंद्र की रचनाओं तक चला आया। पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन और प्रसार में भी भारतेंदु का ही कृतित्व मानना चाहिए। उन्हीं को आदर्श रूप में स्वीकार करके और उनके उत्साह

से प्रेरित होकर अन्य अनेकानेक समाचार और साहित्य संबंधी पत्र प्रकाशित हुए और कुछ वर्षों के लिए हिंदी-साहित्य के आंदोलन ने सर्वतोमुखी जाग्रति उत्पन्न कर दी। भाषा और पत्र-पत्रिकाएँ आधार थीं और आधेय था गद्य-साहित्य का निर्माण तथा उसका विकासोन्मुख वृद्धि-क्रम। अपनी प्रतिभा, प्रभाव, लगन और संगठन-शक्ति के बल पर भारतेंदु हरिश्चंद्र ने थोड़े ही समय के भीतर वह उत्पादनशीलता दिखाई कि सर्वशून्य गद्य-साहित्य का क्षेत्र भरा-पुरा ज्ञात होने लगा। उनके मंडल के अन्य सहयोगियों ने बड़ी तत्परता से साहित्य-निर्माण में उनका साथ दिया। फलतः गद्य-साहित्य के विभिन्न अवयव उत्तरोत्तर बलवत्तर होते गए। नाटक, उपन्यास, आलोचना, निबंध, गद्य-प्रबंध इत्यादि सभी विषयों का प्रचलन हो गया। सन् १८६३ ई० से लेकर सन् १८९३ ई० के परिमित काल में ही जितना प्रचुर साहित्य हिंदी में निर्मित हुआ स्यात् ही किसी साहित्य के इतिहास में केवल तीस वर्षों के भीतर इतना हुआ हो। यह हिंदी-गद्य-साहित्य का उदय-काल था और इन तीस वर्षों के सूत्रधार थे भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र। उनकी बहुमुखी प्रतिभा सच्चे युगप्रवर्तक के रूप में संपूर्ण साहित्यिक क्षेत्र का नियंत्रण करती रही अतएव यदि इस आरंभ-युग को हरिश्चंद्र-काल अथवा युग कहा जाय तो किसी प्रकार भी अनुचित न होगा।

———

२

भारतेंदु के नाटकों में युगधर्म

यों तो नाटक-रचना भारतीय साहित्य की प्राचीन विशेषता है, परंतु संस्कृत भाषा में लिखे नाटकों का और प्राचीन नाट्य-शास्त्र-विहित पद्धति का अनुसरण हिंदी के नाट्यकारों ने उतनी कड़ाई से नहीं किया। संस्कृत भाषा में नाट्य-रचना की परंपरा जिस समय समाप्त हो गई थी उसके बहुत दिनों के उपरांत नए सिरे से हिंदी में नाटक-ग्रंथों का प्रणयन आरंभ हुआ। उसमें भी अनेक ऐसी रचनाएँ हैं जो काव्य की कोटि में आएँगी—उनके नामकरण में भले ही नाटक शब्द का प्रयोग किया गया हो। हिंदी-खोज के विवरण में तो नाटकनामधारी कई कृतियों का उल्लेख प्राप्त होता है, परंतु वे प्रायः सभी ब्रजभाषा में लिखी गई हैं और सभी पद्यमय हैं। इसके अतिरिक्त उनमें नाटक के मूल तत्त्वों का कोई आधार भी नहीं मिलता। कहने का तात्पर्य यह है कि इनका उल्लेख नाटकों की श्रेणी में नहीं होना चाहिए। जैन कवि बनारसीदास का 'समयसार-नाटक', प्राणचंद चौहान का 'रामायण महानाटक', व्यासजी के शिष्य देव कृत 'देवमाया-प्रपंच', अंतर्वेदनिवासी ब्राह्मण नेवाज का 'शकुंतला', रघुराम नागर का 'सभासार', कृष्णजीवन लछीराम कृत 'करुणाभरण', लल्लूलालजी के वंशधर हरिराम का 'जानकीराम-चरित नाटक',

बांधवनरेश महाराज विश्वनाथ सिंह कृत 'आनंद-रघुनंदन नाटक', बाबू गोपालचंद्र का 'नहुष' इसी प्रकार की रचनाएँ हैं।*

अपने 'विद्यासुंदर' नाटक की द्वितीय आवृत्ति के उपक्रम में भारतेंदु हरिश्चंद्रजी ने भी कुछ अपने पूर्ववर्ती नाटकों एवं नाटककारों का विवरण दिया है। "निवाज का शकुंतला या ब्रजवासीदास का प्रबोधचंद्रोदय नाटक नहीं, काव्य हैं। इससे हिंदी भाषा में नाटकों की गणना की जाय तो महाराज रघुराज सिंह का 'आनंद-रघुनंदन' और मेरे पिता का 'नहुष' नाटक यही दो प्राचीन ग्रंथ भाषा में वास्तविक नाटककार मिलते हैं, यों नाम को तो देवमायाप्रपञ्च, समय-सार इत्यादि कई भाषा-ग्रंथों के पीछे नाटक शब्द लगा दिया है।" इनमें से प्रथम दोनों का शास्त्रीय विवेचन तो इसलिए आवश्यक नहीं है कि वे नाटक नहीं हैं। अन्य दोनों में नाटक की रूपरेखा तो प्राप्त होती है, परंतु वे भी शुद्ध नाटक नहीं हैं। उनमें न तो नाटकों के अवयवों का प्रयोग है और न रचना-पद्धति में ही स्थिरता दिखाई पड़ती है।

आनंद-रघुनंदन (सन् १८७१ ई०) में रामचंद्र के राज्याभिषेक तक का इतिवृत्त कथानक के रूप में रखा गया है। रामचरितमानस के अनुरूप संपूर्ण कथा सात अंकों में विभाजित की गई है। इतिवृत्त के भीतर आनेवाली अनेक घटनाओं की नाटकीय एवं तर्कसंगत व्यवस्था नहीं की गई, जिसका परिणाम यह दिखाई पड़ता है कि कथानक का विकास न होकर घटनाओं का जमघट भर रह गया है। उनका क्रम अवश्य ही इतिहासप्रसिद्ध है।

---

* बाबू ब्रजरत्नदास कृत 'हिंदी-नाट्य-साहित्य' प्रथम संस्करण का तृतीय प्रकरण।

चिरपरिचित नामावली के स्थान पर गढ़े हुए जो नाम कल्पित और प्रयुक्त हुए हैं वे मजाक मालूम पड़ते हैं। प्रसिद्ध लक्ष्मण इस नाटक में आकर 'डीलधराधर' और भरत 'जगडहडहकारी' बन गए हैं। संपूर्ण नाटक को पढ़कर वीर रस का कुछ आभास मिलता है। चरित्र-चित्रण का विचार प्रायः नहीं ही रखा गया। पात्रों की संख्या इतनी अधिक है कि उनका नाम स्मरण रखना कठिन है। इसका एक कारण यह भी है कि उनके चरित्र की प्रमुख विशेषता का भी स्पष्ट बोध नहीं हो पाता। यों तो कहीं-कहीं भाषा की अनेकता प्राप्त होती है परंतु प्रधानता ब्रजभाषा की है। बीच-बीच में जो नाटकीय निर्देश दिए गए हैं वे संस्कृत में हैं। इसके अतिरिक्त भाषा काव्यात्मक और अभिव्यंजना अलंकार-प्रधान है।

"सूत्रधारो विस्मितः (क्षणमनुध्याय आकाशे कर्णं दत्वा)—कहा कहियतु है।"

गद्य—"भारगन सुगंध सलिल सिंचावो गिलिम बिछाओ सिंघासन गद्दी धरावो सकलछितियेकछत्र सर्व छितिपति नक्षत्र नछत्रपतिसे दिगजान महाराज आवै है।" पृ० ३

पद्—"महल महल चहल पहल बहल मैं गलन गैल गैल कोलाहल सैल उसलत चलत अरावन खलभलित भल सिंधुजल उच्छलत हलल हलल भूगोल कोल कलमलित बोल मुख न कढ़त लोल सीस व्याल ईसहूँ भयो।" पृ० १३३

× × ×

'नहुष नाटक' (सन् १८४१ ई०) की रचना भारतेंदु के पिता बाबू गोपालचंद ने की। इसका केवल आरंभिक अंश प्राप्त है, जो

'कवि बचन-सुधा' के पहले वर्ष के प्रथम अंक में छपा था। इसकी भी रूप-रेखा काव्य की-सी है, परंतु 'आनंद-रघुनंदन' की अपेक्षा यह कृति कहीं अधिक स्पष्ट नाटकात्मक है। प्राप्त अंश में केवल प्रस्तावना और प्रथम अंक हैं। इतने अंश के आधार पर दृढ़ता पूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि "यह नाटक संस्कृत नाटकों के समान नाट्यकला के सभी अंग-प्रत्यंगों से युक्त है।" जिस स्थल पर पहुँचकर नाटकों में सौकर्य और कौशल देखा जाना चाहिए उससे बहुत पूर्व ही नाटक समाप्त हो जाता है। सामान्यतः प्रथम अंक तो परिचय में निकल जाता है। उसमें प्रधान फल का आभास तथा विशिष्ट पात्रों का साधारण गुणकथन भर रहता है। इस नाटक में गद्य का प्रयोग 'आनंद-रघुनंदन' से अधिक है, और वह भी अधिक सुबोध। पद्य का प्रयोग फिर भी गद्य से अधिक है। भाषा कहीं-कहीं तो काव्य-प्रधान हो गई है पर साधारणतः चलती है। संपूर्ण नाटक में ब्रजभाषा का प्रयोग हुआ है। निर्देश इसमें भी संस्कृत भाषा में ही रखे गए हैं।

"(नान्द्यन्ते सूत्रधारः)

सूत्रधार—सब कोऊ मौन ह्वै हमारी बात सुनौ। विविध विबुध बृंदारकवृंद-बंदित बृंदावन-वल्लभ ब्रजवनिता बनजवनी विभाकर बंसीधर विधिबदन-चकोर चारु-चतुर-चूड़ामणि चर्चित चरण परमहंस प्रसंसित मायावाद-विध्वंस्कर श्रीमत् वल्लभाचार्य बंस अवतंस श्रीगिरिधरजी महाराजाधिराज ने मोंकों आज्ञा दीनी है। सो मैं गिरिधरदासकृत नहुष नाटक आरंभ करौं हौं।

(तब आगे बढ़ि हाथ जोरि कै)

इहाँ सब सुभ सभ्य सभाध्यच्छ अपने अपने पच्छन के रच्छन

में परम विचच्छन दच्छ हैं इनके समच्छ इह ढिठाई है तथापि कृपा कर सत्र सुनौ।"

× × ×

इन दोनों रचनाओं में प्रथम तो नाटकीय पद्धति पर लिखा गया काव्य है। उसमें काव्य-पक्ष की विशेषताएँ अधिक मिलेंगी और नाट्य-रचना की अत्यंत न्यून। द्वितीय कृति अपूर्ण होने के कारण प्रस्तुत विचार-क्षेत्र में नहीं आती। ऐसी स्थिति में हिंदी का प्रथम नाटककार भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र को ही मानना चाहिए। उनके समय से आगे फिर नाटक-रचना की परंपरा-सी चल पड़ती है। स्वयं उन्होंने अनेक मौलिक कृतियों का निर्माण किया। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक नाटकों के अनुवाद भी किए। यह हिंदी-गद्य-साहित्य का उदय-काल था। ऐसे समय में इतने समर्थ और कर्मशील लेखक का रचना-क्षेत्र में अवतीर्ण होना ही मंगल का स्वरूप था।

भारतेंदु ने केवल नाटक-रचना का आरंभ ही नहीं किया उसकी नींव भी स्थिर कर दी। उनके अनूदित नाटकों में अथवा नाट्यांशों में 'रत्नावली', 'पाखंड-विडंबन' (प्रबोधचंद्रोदय का तृतीय अंश), धनंजय-विजय', 'मुद्राराक्षस', 'कर्पूरमंजरी', 'भारत-जननी', 'दुर्लभ बंधु' प्राप्त हैं। इन नाटकों का अनुवाद या तो स्वयं उन्होंने किया अथवा अपनी संरक्षकता और निर्देश में किसी दूसरे से कराया। इनमें से दो नाटकों का खंड अनुवाद किया गया है। 'रत्नावली' का केवल आरंभिक अंश, 'प्रबोधचंद्रोदय' का केवल तृतीय अंक 'पाखंड-विडंबन' भर अनूदित है। अनुवाद में स्वतंत्रता का पर्याप्त प्रयोग हुआ है परंतु ऐसा परिवर्तन नहीं किया गया जिससे रस और मुख्य स्वरूप में व्याघात पड़ा हो।

'सत्यहरिश्चंद्र' और 'विद्यासुंदर' ऐसे नाटकों का विचार मौलिक कृतियों के साथ होना चाहिए क्योंकि इनमें मूल से इतना अधिक परिवर्तन किया गया है कि वे स्वतंत्र रचनाएँ ज्ञात होती हैं।

लेखक अपने समय का प्रतिनिधि और सच्चा समालोचक होता है। भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र भी इस स्वभाव-सिद्ध नियम के अपवाद नहीं थे। उनकी कृतियों में तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक प्रगतियों का स्वरूप स्पष्ट अंकित है। उस समय अनेक लेखक, संपादक और सुधारक थे, परंतु सामाजिक कुरीतियों और पतन का, राजनीतिक उदासीनता और दुर्बलता का तथा धार्मिक पाखंड का मार्मिक चित्रण उन्होंने ही किया। यही इस बात का यथेष्ट प्रमाण है कि उनके हृदय में देश का बौद्धिक ह्रास सदैव खटकता रहा। उस काल की साधारण परिस्थिति यह थी कि धनाढ्य और पठित नागरिक अंधकार में पड़े हुए भी अपने को सुखी समझ रहे थे। सरकार की ओर से अनेक प्रकार के अनुचित नियम-प्रतिबंध खड़े किए जा रहे थे, समाज और धर्म में अनेक कुत्सित रीतियाँ, ढोंग और अनाचार अपने अजेय दुर्ग स्थापित कर नित्य भय का प्रदर्शन कर रहे थे, परंतु किसी में इतनी शक्ति नहीं थी दृढ़तापूर्वक और निर्भय होकर विरोध में दो-चार शब्द भी कहता या लिखता। इसे ईश्वर की प्रेरणा ही समझनी चाहिए कि ऐसे समय में भारतेंदु के रूप में एक उत्साही, त्यागी और निर्भीक आलोचक का प्रादुर्भाव हुआ। इसने कुरीतियों, दुर्बलताओं, दासता और पापाचार का कठोर शब्दों में स्पष्ट विरोध किया।

यों तो भारतेंदु जी को जहाँ कहीं अवसर और स्थिति अनुकूल दिखाई पड़ी, वहीं उन्होंने 'उपधर्म छूटे, स्वत्व निज भारत

गहै, कर-दुख बहै', 'नारि नर सम होंहि' कहा परंतु अपने समय की घटनाओं, परिस्थितियों और प्रगतियों का विशेष रूप से चित्रण तथा आलोचन उन्होंने 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'विषस्य विषमौषधम्', 'भारत-दुर्दशा' और 'अंधेर-नगरी' में किया। इन रचनाओं में कथानक इस प्रकार के रखे गए हैं कि जिनके प्रवाह में ऐसे प्रायः सभी आलोच्य विषय आ गए हैं जिनकी ओर भारतेंदुजी समाज की दृष्टि आकर्षित करना आवश्यक समझते थे।

'विषस्य विषमौषधम्' का विषय एक-देशीय है। महाराज मल्हारराव को अपने असत् आचरण के कारण राज्य-सिंहासन का त्याग करना पड़ा। इस घटना का प्रभाव न तो वस्तुतः समाज से संबंध रखता है और न धर्म से ही, परंतु फिर भी इस पर भी कुछ कहना इस विचार से आवश्यक था कि एक प्रसिद्ध घटना के मूल में कार्य-प्रणाली का सिद्धांत स्पष्ट हो जाता है। आलोचक का यह कर्तव्य है कि ऐसे सिद्धांतों के औचित्य पर अवश्य विचार करे।

इस रचना में महाराज मल्हारराव को लक्ष्य बनाकर लेखक ने बड़ी चातुरी से अंग्रेजी सरकार की कड़ी आलोचना की है ? साधारण रूप में तो यही दिखाई पड़ता है कि गायकवाड़ बड़ोदा-नरेश की एकांगी ढंग से बुराई ही बुराई का उल्लेख हुआ है, परंतु विचारपूर्वक देखने से यह ज्ञात हो जाता है कि लेखक केवल परछिद्रान्वेषी नहीं है—जैसा कुछ लोगों का विचार है। इस घटना को लक्ष्य बनाकर लेखक ने अंग्रेजी सरकार की पक्ष-पातपूर्ण उद्दंड नीति की भी आलोचना की है। "पर ऐसे ही सारे भारतवर्ष की प्रजा का सरकार ध्यान नहीं रखती। रामपुर में

दुरंत यवन हिंदुओं को इतना दुःख देते हैं, पूजा नहीं करने देते, शंख नहीं बजाने देते, पर सरकार इस बात की पुकार नहीं सुनती।" "धन्य है ईश्वर। सन् १५९९ में जो लोग सौदागरी करने आए थे वे आज स्वतंत्र राजाओं को यों दूध की मक्खी बना देते हैं।" "सन् १६१७ में जब सरकार से सब मरहठे मात्र बिगड़े थे तब सिर्फ बड़ोदेवाले साथ थे। उनके कुल की यह दशा!", "राजा और दैव बराबर होते हैं. ये जो करें देखते चलो बोलने की तो जगह ही नहीं।" इत्यादि वाक्यों में सरकार की कृतघ्नतापूर्ण स्वेच्छा-चारी प्रवृत्ति का घोर विरोध हुआ है। बाबू हरिश्चंद्रजी के समय में भारतवासी अपने अधिकारों के प्रति न तो चैतन्य ही हुए थे और न अन्याय के विरोध में ही निर्भीक थे। राष्ट्रिय जाग्रति का वह आरंभिक काल था। उस समय भारतेंदु ने उपर्युक्त शब्दों में जो आलोचना की वही समयोचित और नीति-युक्त थी। उस समय इतना भी कहना बड़े साहस का काम था।

'अंधेर-नगरी' में न्याय की छीछालेदर दिखाने का अच्छा अवसर मिला। मूर्ख शासक अपनी झक में न्याय शब्द का आश्रय लेकर कितना अंधेर करते हैं; दोषी और निर्दोषी का बिना विचार किए निर्णय करते हैं। न्याय उनके लिए खिलवाड़ है। न्याय के नाम पर किसी-न-किसी को दंड मिलना आवश्यक है, अन्यथा न्याय न होगा। "हुक्म हुआ कि एक मोटा आदमी पकड़ कर फांसी दे दो" क्योंकि बकरी मारने के अपराध में 'किसी न किसी' को दंड मिलना आवश्यक है। वह चाहे यह भी न जानता हो कि शासक की यह अनूठी कृपा उसपर किस लिए हुई। पतित शासक न्याय की हत्या इसी प्रकार करते हैं। ऐसे शासन में रहना प्रजा के लिए सदैव घातक है। न्याय के इस परिहास के अतिरिक्त इस

प्रहसन में सदा की भाँति सिद्ध आलोचक की दृष्टि से अन्य आलोच्य विषय छूटे नहीं हैं। "जैसे काजी वैसे पाजी।" "ले हिंदुस्तान का मेवा फूट और बैर।" "हमारा ऐसा मुल्क जिसमें अंगरेजों का दाँत खट्टा हो गया। नाहक को रुपया खराब किया। हिंदुस्तान का आदमी लक-लक हमारे यहाँ का आदमी बुँबुक-बुँबुक" "चूरन साहब लोग जो खाता। सारा हिंद हजम कर जाता।" "चूरन पूलिसवाले खाते। सब कानून हजम कर जाते।"

'अंधेर-नगरी' में सारा फेर-फार टके का दिखाई पड़ता है। यही कारण है कि लेखक को 'टके' का महत्व दिखाना आवश्यक हो गया। साथ ही वर्तमान संसार में 'टके' का मूल्य कितना बड़ा है तथा आज दिन तो टका ही सब वस्तुओं का माप-दंड बन गया है। टके के पीछे सभी लोग पागल दिखाई पड़ते हैं। उसमें असीम शक्ति है। "एक टका दो हम अभी अपनी जाति बेंचते हैं। टके के वास्ते ब्राह्मण से धोबी हो जायँ और धोबी को ब्राह्मण कर दें, टके के नाते जैसी कहो, व्यवस्था दे दें। टके के वास्ते झूठ को सच करें। टके के वास्ते ब्राह्मण से मुसलमान, टके के वास्ते हिंदू से क्रिस्तान। टके के वास्ते धर्म और प्रतिष्ठा दोनों बेंचें, टके के वास्ते झूठी गवाही दें। टके के वास्ते पाप को पुण्य मानें, टके के वास्ते नीच को पितामह बनावें। वेद, धर्म, कुल-मर्यादा, सचाई-बड़ाई सब टके सेर।" एक ब्राह्मण के मुख से ऐसी बात कहलाकर लेखक ने सब बातें स्पष्ट कर दी हैं। वर्तमान काल में सब भावों के केंद्र में शक्ति-रूप 'टका' ही निवास करता है। टका ही के आधार पर धर्म-अधर्म, मान मर्यादा, ऊँच-नीच सब स्थित हैं। लेखक को यदि समय और अवसर मिला है तो उसने यह

दिखला दिया कि रुपये-पैसे के पीछे किस प्रकार संसार अंधा हुआ है और किस प्रकार आज सर्वोपरि पैसा ही है।

उपर्युक्त दोनों नाटकीय रचनाओं में भारतेंदुजी वस्तुतः आलोचक के रूप में संमुख नहीं आए। एक में कथांश व्यक्तिगत है अतएव एकदेशी है और दूसरे में कथानक रूपक का आधार लेकर खड़ा हुआ है, इस प्रकार स्पष्ट आलोचना नहीं हो सकी। समाज, राष्ट्र और धर्म की सच्ची आलोचना 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' और 'भारत-दुर्दशा' नाटकों में है। इसमें प्रायः धर्म-संबंधी विषय ही हैं। माँस-मदिरा का व्यक्त रूप लेकर और कथानक को उसी आधार पर खड़ा कर लेखक ने समाज की अनेक दुर्बलताओं के पाखंडों का बड़ा ही मार्मिक चित्र खींचा है। "न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।" "अनामर्च्य पितृन् देवान्।" "मद्याजी मां नमस्कुरु" "कलौ पराशरी स्मृतिः" "अतः कलौ भविष्यन्ति चत्वारः सम्प्रदायिनः" की भी यहाँ अच्छी छीछालेदर दिखाई गई है। इन प्रवचनों का स्थूल और वाच्यार्थ लेकर आज धर्म-संसार में किस प्रकार अनाचार फैला है अथवा इन कथनों का बल पाकर समाज कितनी भयंकर उच्छृंखलताओं का केंद्र बन रहा है, इसकी सच्ची आलोचना हुई है। धर्म का ढोंग बनाकर किस प्रकार संसार की आँखों में धूल झोंकी जाती है इसका मंत्री और पुरोहित इत्यादि द्वारा लेखक ने स्पष्ट चित्रण किया है—किस प्रकार मंत्री और पुरोहित ऐसे सलाहकार, कर्म-विधायक और ज्ञानदाता अपने कर्तव्य से च्युत और स्वयं पाप में पतित होकर दूसरे को भी उसी प्रकार का आदेश तथा मत देते हैं कि वे भी उसी ओर चलकर उनके स्वार्थ-साधन में योग दें। ये धर्म के प्रतिनिधि और सलाहकार अपने पक्ष के समर्थन में समाज के प्रचलित

रूप को खड़ा करते हैं। लेखक ने ऐसी परिस्थितियाँ खड़ी की हैं कि प्रच्छन्न रूप में कहने का अवसर तो मिले ही, साथ ही अपनी नित्य की दृष्टि में आनेवाले दृश्यों का भी रहस्योद्घाटन हो जाय। ऐसे नित्य के जीवन में जो भीरुता और सामाजिक दुर्बलता दिखाई पड़ती है उसका वह कठोरतापूर्वक प्रत्यक्ष विरोध करता है। उसका कहना है कि "ऐसा कौन सा यज्ञ है जो बिना बलिदान का है और 'ऐसा कौन सा देवता है जो माँस बिना ही प्रसन्न हो जाता है और जाने दीजिए इस काल में ऐसा कौन है जो मास नहीं खाता ? क्या छिपा के, क्या खुले-खुले, अंगोछों में माँस और पोथी के चोंगे में मद्य छिपाई जाती है। उनमें जिन हिंदुओं ने थोड़ी भी अंगरेजी पढ़ी है या जिनके घर में मुसलमानी स्त्री हैं उनकी तो कुछ बात ही नहीं, आजाद हैं।" इस प्रकार अपने समाज की इन दुर्बलताओं तथा नित्य की भीरुताओं की इतने स्पष्ट शब्दों में आलोचना करनेवाले उस समय केवल बाबू हरिश्चंद्र ही थे। वे भली-भाँति जानते थे कि इन दुर्दमनीय दुर्बलताओं के कारण हमारा राष्ट्रिय चरित्र-बल नित्य-प्रति नष्ट-भ्रष्ट ही होता जा रहा है। जितनी मार्मिकता से और जितने कठोर शब्दों में उन्होंने यह संवाद लिखा है, वही इस बात को स्पष्ट करता है कि इस विषय में उनका हृदय कितना दृढ़ था।

इसके अतिरिक्त गंडकीदास का स्वरूप सम्मुख खड़ा कर प्रत्यक्ष वैष्णव और प्रच्छन्न व्यभिचारियों का अच्छा परिचय दिया गया है। हमारे समाज में गंडकीदासों की कमी नहीं है ऐसे व्यक्ति हमारी दृष्टि में नित्य आया करते हैं जो अपनी नीचताओं और दुर्बलताओं के गोपन में शक्ति भर सचेष्ट रहते हैं। वे चेष्टा करते रहते हैं कि उनके काले हृदय की आभा किसी प्रकार उनके बाह्य

आकार-प्रकार पर न पड़ने पाए। ऐसे प्रच्छन्न पापाचारी समाज के लिए बड़े ही घातक सिद्ध होते हैं और ये ही समाज के नैतिक पतन के प्रधान कारण बनते हैं। ऐसे गुप्त पापाचारियों की आलोचना लेखक ने बड़े भावुक ढंग से की है।

"गंडकीदास—(धीरे-धीरे पुरोहित से) अजी, इस सभा में हमारी प्रतिष्ठा न बिगाड़ो। वह तो एकांत की बात है।

पुरोहित—वाह, इसमें चोरी की कौन सी बात है ?

गंडकी०—(धीरे से) यहाँ वह वैष्णव और शैव बैठे हैं।"

इतने ही शब्दों में लेखक ने सब कुछ कह डाला है। अंतिम दृश्य में यम की न्यायशाला का चित्र है। यही नाटक का मूलाधार है। इसमें लेखक ने राजा, मंत्री, पुरोहित तथा बाबा गंडकीदास का सच्चा रूप दिखाकर उनकी सीधी आलोचना की है। चित्रगुप्त ने एक-एक का जो पृथक् पृथक् परिचय दिया है, वह अत्यंत स्पष्ट है। शासन, न्याय और व्यवस्था के प्रतिनिधि राजा की वास्तविक स्थिति यह है कि "जन्म से पाप में रत रहा, इसने धर्म को अधर्म माना और अधर्म को धर्म माना, जो जी चाहा किया और उसकी व्यवस्था पंडितों से ले ली, लाखों जीवों का इसने नाश किया और हजारों घड़े मदिरा के पी गया पर आड़ सदा धर्म की रखी; अहिंसा, सत्य, शौच, दया, शांति और तप आदि सच्चे धर्म इसने एक न किए, जो कुछ किया वह केवल वितंडा कर्मजाल किया, जिसमें माँस-भक्षण और मदिरा पीने को मिले और परमेश्वर प्रीत्यर्थ इसने एक कौड़ी भी नहीं व्यय की, जो कुछ व्यय किया सब नाम और प्रतिष्ठा पाने के हेतु।"

शुद्ध नास्तिक, केवल दंभ से यज्ञोपवीत पहननेवाले पुरोहित की स्थिति यह है कि "शुद्ध चित्त से कभी ईश्वर पर विश्वास नहीं

किया, जो-जो पक्ष राजा ने उठाए उसका समर्थन करता रहा और टके-टके पर धर्म छोड़कर इसने मनमानी व्यवस्था दी, दक्षिणा मात्र दे दीजिए, फिर जो कहिए उसीमें पंडितजी की संमति है, केवल कमंडलाचार करते जन्म बीता और राजा के संग से माँस-मद्य का भी बहुत सेवन किया। सैकड़ों जीव अपने हाथ से बध कर डाले।"

जीवन-यात्रा में राजा के सलाहकार, कार्यकर्त्ता और मृत्युलोक की कचहरी के घूसखोर मंत्री का परिचय यह है कि "इसने कभी स्वामी का भला नहीं किया, केवल चुटकी बजाकर हाँ में हाँ मिलाया, मुँह पर स्तुति पीछे निंदा अपना घर बनाने से काम, स्वामी चाहे चूल्हे में पड़े, घूस लेते जन्म बीता, माँस और मद्य के बिना इसने न और धर्म जाने और न कर्म जाने—यह मंत्री की व्यवस्था है, प्रजा पर कर लगाने में तो पहले संमति दी पर प्रजा के सुख का उपाय एक भी न किया।"

"दूसरों की स्त्रियों को माँ और बेटी कहकर और लंबा-लंबा टीका लगाकर लोगों को ठगनेवाला धर्म-वंचक 'गंडकीदास' गुरु लोगों में हैं, इनके चरित्र कुछ न पूछिए, केवल दंभार्थ इनका तिलक, मुद्रा और केवल ठगने के अर्थ इनकी पूजा, कभी भक्ति से मूर्ति को दंडवत् न किया होगा पर मंदिर में जो स्त्रियाँ आयीं उनको सर्वदा तकते रहे, इन्होंने अनेकों को कृतार्थ किया है और समय तो मैं रामचंद्रजी का श्रीकृष्ण का दास हूँ पर जब स्त्री सामने आवे तो उससे कहेंगे मैं राम तुम जानकी, मैं कृष्ण और तुम गोपी और स्त्रियाँ भी ऐसी मूर्ख कि फिर इन लोगों के पास जाती हैं।"

इन परिचयों से निर्विवाद सिद्ध है कि लेखक की दृष्टि में

आलोच्य लक्ष्य स्थूल है। वह केवल सिद्धांत के स्पष्टीकरण के विचार से उदाहरण नहीं दे रहा है। वास्तव में उसने एक-एक के जीवन का व्यावहारिक जगत् में अच्छा परिचय प्राप्त किया है। किसी राजा के जीवन को उसने अपनी आँखों देखा है और फिर ऐसे व्यक्तियों की कमी भी नहीं। वर्णन के अनुसार राजा और धनिकों के सलाहकार मंत्री और बुद्धि-दाता भी नित्य दिखाई पड़ते हैं। पुरोहित और धर्माचार्य भी अधिकांश इसी प्रकार के धर्मवंचक मिलते हैं। अपने समय के मठाधीशों, पंडे, पुजारियों और दंडधारी धर्मात्माओं के अनुरूप गंडकीदास का स्वरूप चित्रित किया गया है। लेखक ने इस दृश्य में अपने समय के धम-गुरुओं, राजाओं और कार्यकर्ताओं के कर्तव्यहीन जीवन का अनुभवपूर्ण परिचय दिया है।

इन प्रच्छन्न आलोचनाओं के अतिरिक्त बाबू हरिश्चंद्रजी ने सदा की भाँति इस नाटक में भी अपनी समकालीन प्रगतियों और प्रवृत्तियों व्यक्तियों और घटनाओं पर कठोर व्यंग्यपूर्ण कटाक्ष किए हैं—"और सुनिए मंदिरों को अब लोग कमेटी कर के उठाया चाहते हैं।", "मदिरा ही के पान हित, हिंदू धर्महिं छोड़ि। बहुत लोग ब्राह्मों बनत, निज कुल सों मुख मोड़ि।", "महाराज सरकार अंगरेज के राज्य में जो उन लोगों के चित्तानुसार उदारता करता है उसको स्टार आफ इंडिया की पदवी मिलती है।" "मैं अपनी गवाही के हेतु बाबू राजेंद्रलाल के दोनों लेख देता हूँ, उन्होंने वाक्य और दलीलों से सिद्ध कर दिया है कि माँस की कौन कहे गोमांस खाना और मद्य पीना कोई दोष नहीं, आगे के सब हिंदू खाते पीते थे। आप चाहे एशियाटिक सोसाइटी का जर्नल मँगा लीजिए।" इन व्यंग्यों से उनका अभिप्राय Temprence Com-

mittee, ब्रह्मसमाज, राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिंद' और समाज सुधारकों में अग्रगण्य बा० राजेंद्रलाल मित्र से है। भारतेंदुजी खरीखोटी सुनाने में निपुण थे; अपने से बड़े-छोटे और समाज-संस्था जिस किसी का भी विरोध किया सीधे और कड़े शब्दो में। इतना निर्भीक और स्पष्टवक्ता उस समय के साहित्य-संसार में कोई नहीं था।

'भारत-दुर्दशा' नाटक में लेखक ने स्वच्छंद होकर समकालीन समाज, देश; राजनीति, धर्म वेदांत आदि की अच्छी टीका-टिप्पणी की है। सुधारवादियों के सिद्धांत और औपचारिक व्याख्यानों का भी रूप खींचा है और साथ ही उनकी हृदय-स्थित भीरुता और अकर्मण्यता का भी अच्छा दिग्दर्शन कराया है। इस नाटक में जैसा प्रत्यक्ष आक्षेप भारत की राजनीतिक दुर्दशा और नैतिक पतन पर लेखक ने किया है, साथ ही समय का जैसा सम्यक् आलोचन इसमें दिखाई पड़ता है, वैसा आज तक कोई नाटककार नहीं कर सका। यह नाटक भारतेंदु की शक्ति, साहस तथा नाटक-रचना की निपुणता का अच्छा उदाहरण है। एक साधारण रूपक बाँधकर उन्होंने भारत की सर्वदेशीय दुर्दशा के कारणों का मार्मिक विवेचन किया है। किस प्रकार भारतीय जन-समुदाय अंग्रेजी सरकार की राजनीतिक चालों और अपनी दुर्बलताओं के कारण त्रस्त और दरिद्र होता है, इसका स्पष्ट और विस्तृत उल्लेख इस रचना में किया गया है। हमारे धार्मिक अंध-विश्वासों और संकुचित भावों ने अनेक बखेड़े खड़े कर दिए हैं। ये बखेड़े हमारी दुर्दशा की अनेक प्रकार से अभिवृद्धि कर हमें नित्य पतन की ओर ढकेलते ले जा रहे हैं।

'रचि बहु विधि के वाक्य पुरानन माहिं घुसाए।

शैव, शाक्त, वैष्णव अनेक मत प्रगटि चलाए।
जाति अनेकन करी नीच अरु ऊँच बनायो।
खान-पान संबंध सब सों बरजि छुड़ायो।
जन्मपत्र विधि मिले ब्याह नहिं होन देत अब।
बालकपन में ब्याहि प्रीति-बल नास कियो सब।
करि कुलीन के बहुत ब्याह बल बीरज माखौ।
विधवा-व्याह-निषेध कियौ व्यभिचार प्रचाखौ।
रोकि विलायत गमन कूपमंडूक बनायो।
औरन को संसर्ग छुड़ाइ प्रचार घटायो।
बहु देवी देवता भूत प्रेतादि पुजाई।"

धर्म ने इतना तो किया ही और इसके अतिरिक्त "रचि के मत बेदांत कौ, सब को ब्रह्म बनाय। हिंदुन पुरुषोत्तम कियो, तोरिहाथ अरु पाय।"

संतुष्ट और तटस्थ रहने की घातक प्रवृत्ति की उद्भावना का आधार यही वेदांतवाद है। इतना ही नहीं भारत की दुर्दशा के अनन्य मित्र और सहयोगी भी हैं—अपव्यय, अदालत, फैशन और सिफारिश ने भी पतन में कम सहायता नहीं की। "अपव्यय ने भी खूब लूट मचाई। अदालत ने भी अच्छे हाथ साफ किए। फैशन ने तो बिल और टोटल के इतने गोले मारे कि अंटाधार कर दिया और सिफारिश ने भी खूब छकाया। एक तो खुद ही सब पँड़िया के ताऊ, उस पर चुटकी बजी, खुशामद हुई, डर दिखाया गया बराबरी का झगड़ा हुआ, धायँ धायँ गिनी गईं (सलामी मिली), वर्णमाला कंठ कराई (सी० आई० ई० आदि उपाधियाँ मिलीं)। बस हाथी के खाए कैथ हो गए। धन की सेना ऐसी

भागी कि कब्रों में भी न बची, समुद्र के पार ही शरण मिली।" इन प्रत्यक्ष शत्रुओं के अतिरिक्त ऐसे अनेक विषाक्त कीटाणु हमारे नैतिक और व्यावहारिक जीवन में प्रविष्ट हो गए हैं जो नित्य उसके सुख और महत्व को खाते जाते हैं। वे फूट, डाह, लोभ, भय, उपेक्षा, स्वार्थपरता, पक्षपात, हठ, शोक इत्यादि हैं। इन शत्रुओं ने हमारे संगठन-बल, उदार भावना और विश्वबंधुत्व का सर्वथा नाश कर पूर्ण रूप से हमें निर्बल और अशक्त बना दिया।

सामाजिक और धार्मिक पतन के साथ-साथ यहाँ की मर्यादा और संस्कृति के रक्षक रजवाड़ों की भी शोचनीय दशा है। उनका भी नित्य पतन ही होता जाता है; वे अब निर्जीव-से हो गए हैं। लेखक की दृष्टि सच्चे समालोचक के अनुसार सर्वतोमुखी है। किसी भी पक्ष को उसने छोड़ा नहीं। अतीत के अपने वीर यशस्वी शासकों का स्मरण करते हुए उसने वर्तमान राजाओं के नैतिक पतन का भी थोड़े में उल्लेख किया है:—

> ....अब तो सब नृप मौन।
> वही उदयपुर, जैपुर, रीवाँ पन्ना आदिक राज।
> परबस भए न सोच सकहिं कछु करि निज बल के काज।
> अंगरेजहु को राज पाइ कै रहे कूढ़ के कूढ़। इत्यादि

इस नाटक का पाँचवाँ दृश्य बहुत ही सुंदर और उपयोगी है। इसमें हमारे समाज के कर्णधार, सुधारक, कवि, सभापत एडीटर इत्यादि के दयनीय मौखिक उत्साह का अच्छा चित्रण किया गया है। सभा में बैठकर ये लोग कैसी लंबी-चौड़ी बात-चीत करते हैं, व्याख्यान देते हैं और नानाविधि उत्साह दिखाते हैं, परंतु यदि किसी प्रकार कष्ट और भय का सामना हो जाय तो

बस "बाज झपट जनु लवा लुकाने" की भाँति "हम नहीं" चिल्लाते हुए भाग खड़े होते हैं। व्याख्यान के मंच पर खड़े होकर उपदेश देने में सभी पंडित हैं, परंतु कोई स्वयं कर्मशील दिखाई नहीं देता। 'कोई भारत-दुर्दैव से बचने के लिए हाथ में चूड़ी पहनकर स्त्री-रूप में अपनी रक्षा करना चाहता है। एडीटर तो एडूकेशन की सेना, कमेटी की फौज, अखबारों के शस्त्र और स्पीचों के गोलों से काम लेने की सोचता है। बंगाली केवल गोलमाल कर के गवर्नमेंट को भय-भीत करना चाहता है। कवि केवल इस विश्वास पर अपना फैसला छोड़कर कोट-पतलून पहनने की बात विचारता है कि भारत-दुर्दैव उसे अंगरेज समझकर छोड़ देगा।' कैसा सुंदर व्यंग्य है।

लेखक ने अंगरेजी सरकार की भी कड़ी आलोचना की है। प्रत्यक्ष उदाहरण देकर उसने दिखाया है कि सरकार आँख-कान बंद कर निर्णय करती है। प्रजा के स्वार्थ की बात पीछे रखकर प्रथम अपने स्वार्थ-साधन में निरत रहती है। जहाँ किसी प्रकार भी अपना अहित देखती है तुरंत स्वच्छंदता से काम लेती है—अन्याय और अनियमित रूप से प्रतिकार करती है। सभी भयभीत रहते हैं "कि इस सभा में आने से कमिश्नर हमारा नाम तो दरबार से खारिज न कर देंगे?" गवर्नमेंट के अनुसार भारत-दुर्दैव कहता है, "कुछ पढ़े-लिखे देश सुधारा चाहते हैं। ऐसे लोगों को दमन करने को मैं जिले के हाकिमों को न हुक्म दूँगा कि इनको डिसलायल्टी में पकड़ो और ऐसे लोगों को खारिज करके जितना जो बड़ा मेरा मित्र हो उसको उतना बड़ा मेडल और खिताब दो।" ऐसे लोगों को किस कानून से पकड़ने का अधिकार है यदि यह प्रश्न उठे तो तुरंत उत्तर मिलता है कि

"इंगलिश पालिसी नामक ऐक्ट के हाकिमेच्छा नामक दफा से।"
कितना कठोर और खुला हुआ आक्षेप है। इसी प्रकार एक नहीं अनेक स्थानों पर लेखक ने अंग्रेजी सरकार की अंतरमुखी चालों का रहस्योद्‌घाटन किया है। उसने भारत की दुर्दशा का प्रधान कारण इस नयी शासन-व्यवस्था को ही माना है। समस्त ऐश्वर्य-विभव विदेश में जा रहा है, इसका उसे दुःख है—

अंगरेज राज सुख साज सजे सब भारी
पै धन विदेश चलि जात इहै अति ख्वारी
ताहू पै महँगी काल रोग विस्तारी
दिन-दिन दूने दुख ईस देत हा-हा री
सबके ऊपर टिक्कस की आफत आई। इत्यादि

उक्त अनेकानेक उद्धरणों को साक्षी रूप में रख देने पर यह स्वीकार करना पड़ेगा कि भारतेन्दु जी केवल हिंदी की भाषा शैली के परिष्कार कर्ता और गद्य साहित्य की अनेक विधियों के आदि निर्माता ही नहीं थे वरन् उन्होंने अपने युग की सर्वतोमुखी चेतना का सुंदर प्रकाशन किया था; उसे गति प्रदान की थी। साहित्य को जन जीवन के स्वस्थ प्रांगण में उतारकर दोनों का योग बैठाने में अपूर्व सफलता उन्होंने प्राप्त की थी। इस प्रकार की सर्वतोमुखी आलोचना आज तक किसी लेखक ने नहीं की। भारतेंदुजी अनेक पथ के आदर्श थे—यह सभी को मानना पड़ता है। वे सामयिक धर्म की आलोचना के क्षेत्र में भी अग्र-गण्य थे।

३

चंद्रावली

भारतेंदु की रचनाओं में 'चंद्रावली' का विशेष स्थान है। इस कृति के भीतर उनकी काव्य-रचना का प्रौढ़ रूप दिखाई पड़ता है। साथ ही इस बात के समझने का भी पूरा अवसर मिलता है कि उनमें किसी सिद्धांत को सजीव ढंग से प्रत्यक्ष करने की अथवा साहित्यिक रूप में उपस्थित कर सकने की कितनी क्षमता थी। इसके अतिरिक्त इस कृति में नाटककार का व्यक्तित्व अधिक स्फुटित हुआ है और उसकी प्रेमचर्या और भावुकता का अच्छा परिचय मिलता है। यहाँ देश-काल की परिधि से परे होकर वह उन्मुक्तावस्था का अनुभव करता प्रतीत होता है। चित्तवृत्ति की एकोन्मुख द्रवता का मंगलमय एवं पुनीत चित्रण ही इस नाटिका का लक्ष्य मालूम पड़ता है। 'चंद्रावली' में प्रेम का आदर्श और उसकी अवांतर स्थितियों का रूप साकार हो उठा है। इसमें भारतेंदु के हृदय की झाँकी और भाव-प्रवणता का योग मिलता है।

इसके अतिरिक्त इस नाटिका से इस बात का भी पता लग जाता है कि भारतेंदुजी में केवल शास्त्रीय विधान का ज्ञान ही नहीं था वरन् वे विधान के प्रयोग में भी पूरे पंडित थे। इस रचना को नाटिका संज्ञा देकर उन्होंने इसका निर्वाह भी बड़ी सफलता के साथ किया है।

परिभाषा के अनुसार नाटिका उपरूपक का इतिवृत्त कवि-कल्पनाश्रित होता है और उसमें अधिकांश पात्र स्त्रियाँ होती हैं। इसमें चार अंक रहते हैं। धीरललित नायक कोई प्रख्यात राजा होता है और अंतःपुर से संबंध रखनेवाली अथवा संगीत-प्रेमी राजवंशीया कोई नवानुरागिनी नायिका होती है। पट्ट महिषी—महरानी—के भय से नायक का प्रेम शंकायुत रहता है और महारानी राजवंश की प्रगल्भ नायिका होती है जो निरंतर मान किया करती है। नायक और नायिका का समागम उसी के अधीन रहता है। नाटिका में वृत्ति कैशिकी होती है और अल्प विमर्श अथवा शून्य विमर्श से युक्त संधियाँ होती हैं[1]।

नाटिका के उक्त गुण-धर्म के अनुकूल सामान्यतः सभी विशेषताएँ इस रचना में मिलती हैं। जिस रूप में चंद्रावली का इतिवृत्त यहाँ स्वीकार किया गया है वैसा इतिहास-पुराण में नहीं मिलता। अवश्य ही कृष्ण और अन्य पात्रों से हम अति प्राचीन काल से परिचित हैं। सारा भागवत संप्रदाय और हिंदी

---

१. नाटिका क्लृप्तवृत्ता स्यात्स्त्रीप्राया चतुरंकिका।
प्रख्यातो धीरललितस्तत्र स्यान्नायको नृपः॥
स्यादन्तःपुरसंबद्धा संगीतव्यापृताथवा।
नवानुरागा कन्यात्र नायिका नृपवंशजा॥
संप्रवर्तेत नेतास्यां देव्यास्त्रासेन शंकितः।
देवी भवेत्पुनर्ज्येष्ठा प्रगल्भा नृपवंशजा॥
पदे पदे मानवती तद्वशः संगमो द्वयोः।
वृत्तिः स्यात्कैशकी स्वल्पविमर्शाः संधयः पुनः॥

साहित्यदर्पण षष्ठ परिच्छेद, श्लोकसंख्या पृ०, २६९–७२

के कवि इस प्रकार के आख्यानों का उपयोग सदैव करते रहे हैं, पर जिस रूप में कथानक का सारा उतार-चढ़ाव और परिस्थिति-योजना इस नाटिका में स्वीकार की गई है वह कविकल्पित है। उससे किसी इतिहास-पुराण का संबंध नहीं। पात्रों में स्त्रियों की ही बहुलता है। पुरुष पात्रों में यों तो नारद और शुकदेव भी दिखाई पड़ जाते हैं पर रचना की व्यापार-शृंखला से उनका कोई संबंध नहीं; इसलिए उनकी गणना पात्रों में नहीं हो सकती। केवल कृष्ण ही एक पुरुष पात्र बच जाते हैं जिनका संबंध फल प्राप्ति से है। परिभाषा के अनुरूप यह संपूर्ण वस्तुविधान चार अंकों में विभाजित है। नायक के भी धीरललित[1] होने में कोई शास्त्रीय आपत्ति नहीं हो सकती। नायिका चंद्रावली अपने आवश्यक धर्मों से संयुक्त है। यों तो पट्टमहिषी अथवा महरानी का कृतित्व अथवा स्वरूप प्रायः नहीं के समान है पर जब नायक-नायिका के संयोग की बात सामने आती है तो ज्येष्ठा की आज्ञा यथास्थान प्राप्त होती है और तभी दोनों का संयोग संभव हो सका है। 'शृंगारे कैशिकी' के अनुसार इस नाटिका में कैशिकी[2] वृत्ति का ही सर्वत्र प्रयोग हुआ है और विमर्श[3] संधि का सर्वथा

---

* निश्चिन्तो मृदुरनिशं कलापरो धीरललितः स्यात्।

—वही, २-३४

† या श्लक्ष्णनेपथ्यविशेषचित्रा स्त्रीसंकुला पुष्कलनृत्यगीता।
कामोपभोगप्रभवोपचारा सा कैशिकी चारुविलासयुक्ता॥

—वही, ६-१२४

‡ यत्र मुख्यफलोपाय उद्भिन्नो गर्भतोधिकः।
शापाद्यैः सान्तरायश्च स विमर्श इति स्मृतः॥

—वही, ६—७९-८०

अभाव है। प्रेमी-प्रेमिका की एकोन्मुख प्राप्ति में कोई अंतराय नहीं पड़ने पाया।

वस्तु

प्रथम अंक की कथा चंद्रावली और उसकी अंतरंग सखी ललिता के संवाद से प्रारंभ होती है। आत्मीयता और व्यक्तिगत बातचीत दोनों में चलती है। धीरे-धीरे चंद्रावली अपने आंतरिक मर्म का अवगुंठन खोलती है और अपने प्रेम के निश्चित लक्ष्य का स्पष्ट उल्लेख अपनी सखी से करती है। ललिता भी अपनी सखी की विवशता के कारण पूरी सहानुभूति के साथ उसे सहयोग देने का निश्चय करती है। इस प्रकार नाटिका के फल का बीज तैयार होता है और स्थिति का पूरा परिचय मिल जाता है।

द्वितीय अंक का सारा प्रसार, चंद्रावली की विरहावस्था की कथा और उसका चित्रण है। इसमें विप्रलंभ शृंगार की विविध अंतर्दशाओं का सजीव और काव्यात्मक वर्णन है। वनदेवी, संध्या और वर्षा के योग से चंद्रावली के विरहोन्माद का जो विवरण वहाँ उपस्थित किया गया है उसमें मात्राधिक्य अवश्य है पर सच्ची भावुकता को खुल-खेलने का भी अच्छा अवसर दिखाई पड़ता है। वस्तुतः इस अंक में कार्य की प्रयत्नावस्था का स्पष्ट आभास मिलना चाहिए था। परंतु इसके लिए लेखक ने एक पृथक् अंकावतार* की व्यवस्था की है। उसमें प्रकारांतर से अपने प्रियतम के पास भेजे गए चंद्रावली के पत्र को प्रकाशित

---

* अंकांते सूचितः पात्रैस्तदेकस्याविभागतः।
यत्रांकोऽवतरत्येषोऽकांवतार इति स्मृतः॥ —वही, ६—५८-९

करके नाटककार ने प्रयत्न नाम की कार्यावस्था की सिद्धि की है मुख्य क्रिया को इस प्रकार गौण स्थान देना अच्छा नहीं हुआ। विषय की गहनता के अनुरूप उद्योग का प्रसार नहीं होने पाया। प्रयत्न-कथन दबा-सा रह गया है। विरह के विस्तार में ही यदि इसी प्रकार के प्रयत्न का कुछ रूप चला दिया गया होता तो कार्य की इस अवस्था को भी बल मिल जाता। फिर भी चंपकलता अपनी सखी के पत्र को यथास्थान अवश्य ही पहुँचाएगी—इसका निश्चय ही प्रयत्न को सिद्ध कर देता है।

तीसरे अंक में चंद्रावली अपनी अनेक सखियों के साथ उद्यान-विहार के लिए गई मिलती है। इस अंक में भी मात्राधिक्य वर्तमान है और विरहविदग्धा नायिका के लिए प्रकृति की अपार सुषमा उद्दीपन का काम करती है। वर्षा और झूले के प्रसंग से चंद्रावली का विरहोच्छ्वास और अधिक जोर पकड़ता है। फिर तो उसके साढ़े चार पृष्ठों के स्वागतभाषण को सुनने का अवसर आता है। यदि रंगमच का विचार कम कर दिया जाय और बुद्धिपक्ष के आग्रह का ध्यान छोड़ दिया जाय तो भावुकता की दौड़ को स्वीकार किया जा सकता है। प्रेम की मधुर व्यंजना का प्रसार स्वभावतः पाठक को ऊबने नहीं देगा। किसी विरहिणी की करुण स्थिति और उद्‌गार को सुनने में किसी को अरुचि दिखाने का अधिकार नहीं हो सकता। इस प्रकार के प्रसारगामी काव्यतत्व और दुर्बल नाटकत्व से हम प्राचीन काल ही से परिचित रहे हैं। एक ओर लेखक उद्दीपन भाव से आकुल तो है पर संविधानक की आकांक्षा का ज्ञान भी उसमें बना है और फलप्राप्ति हो इसके लिए वह आशा की व्यवस्था कर देता है—"हम तीनि हैं सो तीनि काम बाँटि लें। प्यारीजू के मनाइबे को

मेरी जिम्मा। यही काम सब में कठिन है और तुम दोउन मैं सों एक याके घरकेन सों याकी सफाई करावे और एक लालजू सो मिलिबे को कहै।" इस प्रकार नायिका की सखियाँ आपस में मिलकर समस्त वस्तुस्थिति को अनुकूल बनाने की अपनी चतुर्मुखी योजना तैयार कर लेती हैं। इससे कार्यसिद्धि की आशा होने लगती है।

चतुर्थ अंक में प्राप्त्याशा नियताप्ति में परिणत होती है। प्रेमी कृष्ण जोगिन के वेश में स्वयं चंद्रावली की बैठक में आते हैं। फिर तो चंद्रावली और उसकी सखी ललिता भी एकत्र हो जातीं हैं। सारा वायुमंडल प्रसन्न एवं अनुकूल बन जाता है और नायिका को सगुन होने लगते हैं। उसमें भावोद्रेक का संचार होते ही जोगिन प्रकट हो जाती है। इस स्थिति को देखकर निश्चय हो जाता है कि प्रेमी प्रेमिका का मिलन हो जायगा। कुछ दूर तक गोप्यगोपन क्रिया यों ही चलती है पर विमर्श का न तो प्रसंग आने पाता और न कोई आशंका ही दिखाई पड़ती। अंत में चंद्रावली गाते-गाते बेसुध होकर गिरा चाहती है कि एक बिजली सी चमकती है और जोगिन श्री कृष्ण रूप में परिणत होकर उसे गले लगाती है। यों तो इसके उपरांत भी इस फलसिद्धि का विस्तार दिखाया गया है पर उसका कोई विशेष अर्थ और उपादेयता नहीं सिद्ध की जा सकती।

इस प्रकार नाटिका का सारा कथानक विरह और मिलन की मधुर कहानी के रूप में फैला दिखाई देता है।

पात्र

इस रचना में चंद्रावली को छोड़कर अन्य सब पात्र गौण हैं। सखी वर्ग का अपना कोई भिन्न अस्तित्व ही नहीं है। वे सभी

मुख्य साधन के रूप में प्रयुक्त हुई हैं,—न उनका अपना कोई इष्ट है और न पृथक् व्यक्तित्व ही। क्रिया-व्यापार की शृंखला भी विशेष महत्वपूर्ण ढंग से नहीं चली जिससे किसी का स्वरूप स्फुटित हो सकता। सखियों के अतिरिक्त राधारानी ज्येष्ठा और श्रीकृष्ण धीर-ललित नायक हैं—केवल शास्त्रस्थिति संपादन के लिए। संपूर्ण नाटिका में केवल एक पात्र है—चंद्रावली। वह भी प्रेम के सिद्धांत और आदर्श की प्रतिमा मात्र है। उसका जीवन ऐकांतिक अनुराग की एकनिष्ठ कहानी है। अपने प्रेम में मस्त, प्रेमी पर अखंड विश्वास किए, अपनी साधना में दृढ़, एक-रस, एकचित्त अपनी मधुर प्रतीक्षा के मार्ग से जाती दिखाई पड़ती है। प्रेमी की निष्ठुरता पर जो उपालंभ मिलता है उसमें प्रेम का अनुभूति-मूलक उद्वेग अवश्य है, पर वह भी आक्षेपयुक्त उतना नहीं जितना रसमय और मधुर। उसमें कामनाविहीन आत्मसमर्पण तो है ही उसके साथ प्रियहित-चिंतन उसकी प्रेम-पद्धति को और अधिक निर्मल बना देता है। वह स्वयं विरह की आनंद-मयी तीव्रता का अनुभव करती है, साथ ही भगवान् से याचना करती है कि इस प्रकार की उद्वेगपूर्ण स्थिति में प्रिय कभी न पड़े और उसके कारण उसका जीवन उस प्रकार की उलझनों में न फँसे जिसमें वह स्वयं पड़ी है। मिलन के बाद तो फिर उसमें कोई अन्य लालसा ही नहीं रह जाती—'और कोई इच्छा नहीं, हमारी तो सब इच्छा की अवधि आपके दर्शन ही ताईं है। अनन्यभावा-पन्नता ही उसके चरित्र की मूल भित्ति कही जा सकती है। प्रेम की भौतिकी दृष्टि का संकोच उसमें कहीं नहीं देखा गया। उसका प्रेम आध्यात्मिक से पूर्णतया संवलित होकर तत्त्वमसि बन उठा है। इस नाटिका की यही प्रेरणा है।

रस-विचार

रस की दृष्टि से इस नाटिका में शृंगार की ही निष्पत्ति हुई है। वियोग काल की विभिन्न उद्वेगपूर्ण परिस्थितियों के विस्तार-प्रसार के उपरांत प्रेमी प्रेमिका का नाटकीय संयोग हो जाता है। संयोग-वियोग दोनों पक्षों की पूर्ण अभिव्यक्ति का पूरा अवसर मिला है, इतना अवश्य है कि अधिकांश भाग में वियोग काल की ही विभिन्न अवस्थाओं का प्रसार चित्रित है। प्रथम तीन अंकों में वियोगजनित कामदशाओं का प्रस्फुटित रूप दिखाई पड़ता है। अभिलाषा, चिंता, स्मृति, गुणकथन, उद्वेग, उन्माद, प्रलाप, व्याधि, जड़ता और मृति - मरण की सभी दशाएँ, यथास्थान सुंदर विस्तार में वर्णित मिलती है। इनमें एकांगिता का आक्षेप किया जा सकता है पर उसमें दोष नहीं मानना चाहिए, क्योंकि वियुक्त स्थिति से ही व्यक्ति और परिस्थिति-जन्य वैलक्षण्य का स्फुरण भली भाँति दिखाना संभव है। संयोग काल का विवरण अनुमान-गम्य होने से विशेष आकर्षक नहीं होता। इसीलिए रसिकजन जिस उत्साह से वियोग पक्ष का चित्रण करते हैं उससे संयोग का नहीं। दूसरा कारण यह भी है कि दुःख, करुणा इत्यादि के कथन से सात्विक द्रवता जितनी जल्दी उत्पन्न और प्रसारित होती है उतनी आनंद और सुख से नहीं। वियोग की विविध भूमिकाओं और उनके रसमय कथन-चित्रण को कविजन इसी अभिप्राय से अधिक अपनाते हैं।

यहाँ चंद्रावली-कृष्ण आलंबन विभाव हैं। उद्दीपन विभाव के अंतर्गत वर्षा, घन, बिजली, संध्या, मोर, पपीहा, चंद्रमा इत्यादि प्रकृति के नाना रूप और व्यापार आए हैं। अनुभावों का चित्रण

तो अति सजीव हुआ है। स्थान-स्थान पर अश्रु, स्वरभंग, स्तंभ, प्रलय इत्यादि सात्त्विक अनुभावों का रूप दिखाई पड़ता है। इसके अतिरिक्त, आकुल भाव से दौड़ना, केशों का खुल जाना इत्यादि क्रियाएँ कायिक अनुभाव तो सर्वत्र ही मिलते चलते हैं। संचारी भावों की विविधता संपूर्ण नाटिका में फैली दिखाई पड़ती है। उन्माद, दैन्य, मोह, निर्वेद, चिंता, स्मृति इत्यादि अनेक संचारी भावों की यथास्थान स्थापना ने रस को संघटित करने में विशेष सहायता दी है। इस प्रकार शृंगार रस की निष्पत्ति के सभी अवयव एवं योगवाही उपयुक्त स्थलों पर जटित हो गए हैं।

प्रेम-तत्त्व

इस नाटिका में रति भाव का जैसा वर्णन हुआ है उससे इतना तो अवश्य ही स्पष्ट हो जाता है कि कृतिकार ने चंद्रावली के प्रेम के द्वारा एक आदर्श की स्थापना की है। एकनिष्ठ प्रेम और निष्काम रति की जैसी विवृति चंद्रावली में दिखाई गई है वह परमतत्त्व और पारमात्मिक प्रेम की ओर संकेत करती है। उसकी ऐकांतिक तन्मयता और आत्मसमर्पण में आध्यात्मिक पूर्णता की ध्वनि है। 'ऐसा जान पड़ता है। कि इस नाटिका में जिस प्रेम का चित्र अंकित किया गया है, वह भारतेंदुजी के अपने भक्तिभाव का प्रतिबिंब है।' डा० श्यामसुंदरदास के इस निष्कर्ष में औचित्य है क्योंकि अपने समर्पण में स्वयं भारतेंदु जी ने स्वीकार किया है 'इसमें तुम्हारे उस प्रेम का वर्णन है, इस प्रेम का नहीं जो संसार में प्रचलित है।' गोपाल की सांप्रदायिक भक्ति-पूजा

लेखक के घराने में प्रतिष्ठित थी और स्वयं उनकी अनुरक्ति जो
पूजा-भाव की ओर विशेष थी उस दृष्टि से चंद्रावली नाटिका के
प्रतिपाद्य का स्पष्टीकरण हो जाता है।

———
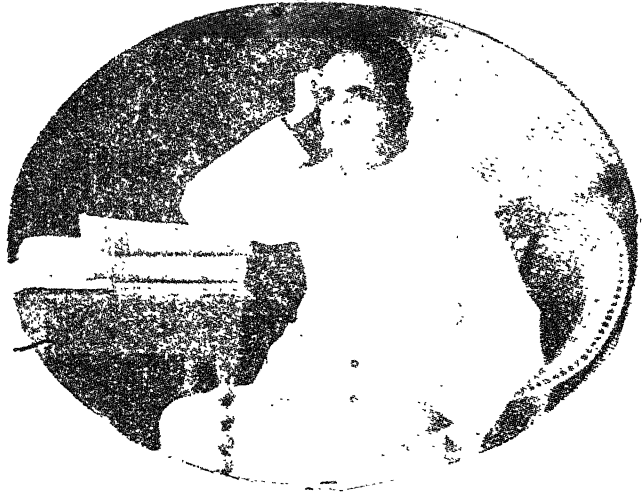
जन्म १८६७] महावीरप्रसाद द्विवेदी [निधन १९९५

महावीरप्रसाद द्विवेदी

१. युगप्रवर्तक द्विवेदीजी

२. द्विवेदीजी की भाषा-शैली

१

युगप्रवर्तक द्विवेदीजी

स्वर्गीय पंडित महावीरप्रसादजी द्विवेदी के कृतित्व और साहित्यिक देन का गुणानुवाद निरंतर तब तक चलता रहेगा जब तक हिंदी भाषा एवं साहित्य की चर्चा चल सकेगी। अपने गंभीर व्यक्तित्व, चरित्र बल और ऐकांतिक साहित्य सेवा से उन्होंने हिंदी जगत् को नाना प्रकार से नव चेतना प्रदान की थी, उसका मार्ग प्रदर्शन किया और उसे इस योग्य बनाया कि वह भारतीय अन्य भाषाओं और साहित्यों के समकक्ष स्थान प्राप्त करने के योग्य हो सके। जीवन भर उनका यही प्रयास रहा है कि हिंदी भाषा दोष-दौर्बल्य से सर्वथा मुक्त होकर शक्तिमती और प्रसारगामी बने तथा उसका साहित्य विविध अंग - उपांगों से परिपुष्ट और अलंकृत होकर राष्ट्र के निर्माण में पूर्ण योग दे सके। यह स्वीकार करने में कोई भी प्रसन्नता का अनुभव करेगा कि अपने पुनीत जीवन में उन्होंने अपने अथक परिश्रम और अनवरत कर्मयोग का मंगलमय प्रतिफल भी देख लिया था। उस वृद्ध तपस्वी के लिए इस मर्त्यलोक में यही स्वर्ग दर्शन हो गया था।

साहित्यिक क्षेत्र में द्विवेदी जी के पदार्पण के पूर्व हिंदी की चतुर्मुखी प्रगति बड़े संतोषप्रद रूप में हो चुकी थी। भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र अपने साथियों के साथ काव्य के प्रायः सभी अंगों की

रचना का सूत्रपात कर चुके थे। कविता, नाटक, उपन्यास, निबंध और आलोचना इत्यादि के अतिरिक्त अन्य विषयों पर भी उस समय रचनाएँ हो रही थीं। साथ ही अनेक पत्र पत्रिकाओं का प्रकाशन तीव्रगति से चल रहा था और काशी में नागरीप्रचारिणी सभा ऐसी महत्वपूर्ण संस्थाएँ स्थापित ही नहीं हो चुकी थीं वरन् भाषा और साहित्य की गतिविधि के नियंत्रण एवं संवर्धन में पूर्ण योग दे रही थीं। लेखकों और प्रकाशकों की कमी नहीं थी। भाषा के विस्तार और व्यावहारिक प्रयोग का आंदोलन छिड़ चुका था। अनेक उत्साही तथा समर्थ लेखक और कार्यकर्ता हिंदी के समुद्धार में दत्तचित्त हो चुके थे। हिंदी में जनवाणी बनने की प्रबल आकांक्षा अनेक रूपों में अभिव्यक्त हो रही थी। इतना होने पर भी सामान्य जनता और पठित समाज में इस विषय की दैन्यानुभूति चल रही थी कि मराठी, बँगला और गुजराती के तारतम्य में अभी हिंदी साहित्य दुर्बल है। ऐसे समय में जब कि नव निर्माण के समस्त उपादान उपस्थित थे और सारी सेना में उत्साह और जागरण के लक्षण दिखाई दे रहे थे एक कर्मठ, कुशल, सत्यशील और वीर्यवान नेता की आवश्यकता थी जो अपनी क्रियाशक्ति द्वारा मार्ग-प्रदर्शन का गुरुतर कार्य कर सकता।

आचार्य द्विवेदीजी इसी समय 'सरस्वती' संपादक के रूप में, हिंदी साहित्य के क्षेत्र में आगे बढ़कर आए, उस समय उनके संमुख अनेक दायित्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित हुए। अभी तक हिंदी जगत् में उन विविध विचारों का पठन-पाठन सुलभ नहीं हो पाया था जिनके विषय में अन्य जाग्रत् और संपन्न भाषा-साहित्य नित्य तर्क-वितर्क कर रहे थे। चारो ओर नित्य नए आविष्कार और

प्रयोग चल रहे थे, विज्ञान के क्षेत्र में अनेक आश्चर्यमयी विभूतियाँ सामने आ रही थीं। साथ ही विज्ञानेतर अन्य न जाने कितनी जानकारी की बातें लिखी पढ़ी जा रही थीं। इन विविध ज्ञान-विज्ञान और व्यावहारिक विषयों का संपर्क हिंदी वालों के साथ स्थापित करना आवश्यक था। इस विचार से प्रेरित होकर कुशल अध्यापक की भाँति द्विवेदीजी अपने बाल हिंदी साहित्य के लिए निरंतर अपनी 'सरस्वती' में नए नए विषयों पर सरल भाषा में टिप्पणियाँ लिखा करते थे। आज जब हम उस काल में प्रकाशित उस पत्रिका की विषय तालिका देखते हैं तब उन विषयों का महत्व ज्ञात होता है। उस समय द्विवेदीजी संसार के कोने कोने से जानकारी की बातें ढूँढ़ खोज कर अपनी पत्रिका में प्रकाशित करते थे। स्वयं पढ़ते और लिखते तो थे ही अन्य अनेक मित्रों और उत्साही नवयुवकों से भी लिखने के लिए आग्रह करते थे। बड़ी तत्परता के साथ शिथिल और दोषपूर्ण भाषा में लिखे उनके लेखों का संशोधन करते, संवारते और तब उसे प्रकाशित करके लेखक का उत्साह बढ़ाते थे। साथ ही, पाठकों के ज्ञानवर्धन और सुरुचि को सजाने का भी काम करते थे। इस प्रकार निरंतर वे भाषा का नित नूतन विषयों में प्रयोग और विषय-ज्ञान का प्रसार करके हिंदी साहित्य के वर्तमान काल की नींव को सुस्थिर और शक्तिशाली बनाते रहे।

उनके संमुख दूसरा दायित्व भाषा-शोधन का था। हरिश्चंद्र-युग में निर्माण का कार्य इतने वेग से चला था कि भाषा के परिष्कार और शुद्धता की ओर विशेष ध्यान न दिया जा सका था। उस काल की भाषा में व्याकरण-संबंधी च्युति और दोष प्रायः मिलते थे। इस क्षेत्र में की गई द्विवेदीजी की सेवा सदैव स्मरण

की जायगी । अपने चारों ओर भाषा-विषयक अशुद्धता एवं अव्यवस्था देखकर संस्कृत के संस्कार में पले हुए इस आचार्य में क्षोभ उत्पन्न हुआ। फलतः उन्होंने कठोरतापूर्वक इसके लिए दत्तचित्त होकर रोकटोक आरंभ की। भाषा-शोधन के अभिप्राय से उन्होंने अपरिमित व्यक्तिगत पत्र, समालोचनाएँ और लेख लिखे। इस विषय में इनकी निर्भीकता और सद्भावमय दोष-दर्शन ने बड़ा उपकार किया। नवयुवक उत्साही लेखक सजग और सशंक होकर लिखने लगे और अनाचारपूर्वक भाषा का प्रयोग बंद हो गया। उस समय अपना साहित्यिक जीवन आरंभ करनेवाले लेखक-गण आज भी द्विवेदीजी की उस जागरूक तत्परता की स्तुति करते मिलते हैं।

खड़ी बोली की कविता का वह अरुणोदय-काल था जब आचार्य द्विवेदीजी ने उसके भरण-पोषण का दायित्व अपने ऊपर लिया। छोटी-मोटी रचनाएँ प्रायः देखने में आती थीं, कथात्मक अथवा भावात्मक काव्यरचना का व्यापक स्वरूप अभी संमुख नहीं आ सका था। यों तो अन्य कृतिकार समय-समय पर निरंतर इसका प्रमाण सुंदरता से दे रहे थे कि खड़ी बोली में काव्य-सर्जना यदि हो तो मँज-मँजाकर उसमें बड़ा भव्य स्वरूप और संपन्नता उत्पन्न हो सकती है। द्विवेदीजी ने इस क्षेत्र में अथक उत्साह दिखाया। जहाँ कहीं भी उन्हें प्रतिभा और अध्यवसाय दिखाई पड़ा उसका स्वागत और अभिनंदन करने लगे। दूसरों को कवि-रूप देने में उन्हें साधनापूर्वक काव्य-रचना करनी पड़ती थी। इसमें उन्होंने हार कभी न मानी और निरंतर पौराणिक आख्यानों एवं ऐतिहासिक विषयों को लेकर इतिवृत्तात्मक कविताएँ स्वयं लिखीं और अन्य युवकों को भी जगाया।

प्रतिभा और योग्यता के अनुरूप अनेक बाल-कवियों को उन्होंने काव्य-रचना की स्फूर्ति प्रदान की, मार्ग-प्रदर्शन किया और निरंतर उनकी साहित्यिक विकास-वृद्धि में गुरुवत् संरक्षण देते रहे। इस पद का उस काल में विशेष महत्व था। द्विवेदीजी के इस रूप और कर्म का जोड़ मिलना कठिन है। उनकी कल्याण-बुद्धि से प्रेरित अध्यवसाय, तपस्या और प्रयोग के परिणाम-स्वरूप अनेक कुशल, प्रतिभाशाली एवं साधक कवि आगे आए। उस मंडली के प्रमुख कृतिकार लोचनप्रसाद पांडेय, रामचरित उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त प्रभृति हैं। इन कवियों की काव्य-रचना शैली का वृद्धिक्रम ही स्वर्गीय द्विवेदीजी की सफलता का इतिहास है।

स्वयं द्विवेदी जी ने कर्मठ होकर इस ढंग की न जाने कितनी कविताएँ लिखीं। उस काल की उनकी सुंदर कृतियों का सुंदर रूप 'कविता-कलाप' 'कुमारसंभव-सार' इत्यादि में दिखाई पड़ता है। इन रचनाओं में वर्णिक और मात्रिक छंदों का विविध प्रयोग वस्तु-संकलन और काव्योचित पदावली का प्रयोग स्थिर होता मिलता है। अवश्य ही इस प्रयोग में भाषा-शैली की कर्कशता जितनी अधिक है उतनी कोमल-कांत पदावली का विन्यास नहीं। परंतु काल-विचार से इस प्रकार का आग्रह समीक्षक नहीं कर सकता। खड़ी बोली काव्य का झुकाव संस्कृत तत्समता की ओर स्थिर कर द्विवेदी युग के प्रतिनिधि कवियों ने हिंदी-कविता के स्वरूप को सुदृढ़ भूमि पर ला खड़ा किया था। पदावली का संस्कार तो हुआ ही साथ ही संस्कृत-काव्य में व्यवहृत शास्त्र और संपूर्ण परंपरा-विभूति का आनयन सरलता से हो गया। पौराणिक इतिवृत्तोंका ज्ञान कराके इस युग की कविता ने प्रच्छन्न

ढंग से राष्ट्र को अपनी प्राचीन गौरव-गाथा कह सुनाई और इस प्रकार उसमें देश-प्रेम और नव जागरण का अभिनंदन किया गया था। इसके अतिरिक्त नवीन हिंदी छंदों और संस्कृत के वर्णवृत्तों की व्यावहारिक सिद्धि स्पष्ट हो गई। एक ओर 'रामचरित चिंता-मणि' में तो दूसरी ओर 'प्रियप्रवास' में इसका प्रयोग अमर हो गया है। हरिगीतिका और गीतिका छंद की लय में तत्कालीन नवोदित बाल कवियों का स्वर मिल गया। सभी इस प्रकार के छंदों का प्रयोग करने लगे। काव्योचित भाषा संस्कार करके और नवीन मात्रिक एवं वर्णिक वृत्तों का मार्ग निर्दिष्ट कर द्विवेदी जी ने नवयुग का समारंभ किया था।

गद्य रचना के क्षेत्र भी इस आचार्य ने बहुत कुछ सिखाया। अन्य साहित्यों से श्रेष्ठ और उपयोगी ग्रंथों का हिंदी रूपांतर किया, संस्कृत के अनेक काव्यों का हिंदी में अनुवाद किया। हिंदी के कवियों तथा लेखकों की आलोचना के साथ संस्कृत के कृतिकारों पर भी समीक्षाएँ लिखीं। भावात्मक और व्यावहारिक विषयों पर छोटे छोटे चलते निबंध प्रस्तुत किए, इन सब कृतियों का एक मात्र लक्ष्य यही दिखाई पड़ता था कि हिंदी पाठकों की मंडली अधिक से अधिक ज्ञातव्य विषयों का स्पर्श कर ले। यह बात और अधिक स्पष्ट होती है उनकी लिखी हजारों उन टिप्प-णियों से जो मूलतः समय समय पर सरस्वती में प्रकाशित हुईं और पीछे से जिनका संग्रह 'विचार-विमर्श' नाम से भारती भंडार से प्रकाशित हुआ है। विभिन्न विषयों पर कुछ न कुछ निरंतर लिखते रहने से द्विवेदीजी के अध्ययन ज्ञान का आभास तो मिलता ही है साथ ही उनकी भाषा शैली के भिन्न-भिन्न स्वरूपों का बोध हो जाता है।

जिसको विभिन्न विषयों पर नित्य लिखना पड़ेगा, और अपनी विद्वता के प्रकाशन के लिए जिसे अवसर नहीं मिलेगा अथवा इस विषय की लालसा जिसमें न रहेगी, प्रत्येक स्तर के विद्यार्थियों तथा पाठकों तक अपनी रचना को पहुँचाना ही जिसका कर्तव्य होगा और जिसमें साहित्य के साथ-साथ भाषा के प्रसार का भी विचार होगा उसकी शैली में कहीं वक्रता और वेग मिलेगा, कहीं मानसिक स्थिति भेद से उग्रता और व्यंग्य की कटुता दिखाई पड़ेगी। विषय निर्धारण और तर्क - वितर्क का संयोग तो सर्वत्र ही प्राप्त रहेगा। द्विवेदीजी की भाषा शैली के विविध रूप हैं कहीं व्यावहारिक चलतापन है, कहीं व्यंग्य और तीव्र आक्षेप के कारण बात कहने में वैदग्ध के साथ विनोदात्मक ध्वनि निकलती दिखाई पड़ती है और कहीं विचार प्रधान विषय - विवेचन का क्षेत्र मिलने पर गांभीर्य एवं तत्समता का बाहुल्य आ जाता है। कहने का तात्पर्य यह है विषय वैभिन्न के अनुरूप भाषा की भंगिमा में यथायोग्य परिवर्तन उपस्थित कर सकना द्विवेदीजी की अपनी विशेषता रही है। इस विषय में यह नहीं भूलना चाहिए कि उस समय स्वर्गीय प्रेमचंद्र, रामचंद्रशुक्ल और प्रसादजी का उदय हो रहा था और अभी तक हिंदी जगत् की शोभा का परिष्कार एवं विस्तार नहीं हो सका था। ऐसे अवसर पर भाषा विषयक विविधरूपता नितांत वांछनीय थी। अनेक प्रकार से प्रभाव उत्पन्न करने के लिए बात कहने के रूप रंग में कैसा व्यावहारिक उतार-चढ़ाव लाना चाहिए इसका आदर्श उपस्थित कर आचार्य द्विवेदीजी ने भावी साहित्यिकों का मार्ग निर्दिष्ट किया था और इसलिए भी उन्हें युग प्रवर्त्तक मानना सर्वथा उचित होगा।

———

२

द्विवेदीजी की भाषा शैली

शब्दावली की विशुद्धता के विचार से द्विवेदीजी उदार विचार के कहे जायँगे। अपने भाव-प्रकाशन में यदि केवल दूसरी भाषा के शब्दों के प्रयोग से ही विशेष बल के आने का सुयोग मिल जाय तो उचित है कि वे शब्द अवश्य व्यवहार में लाए जायँ। द्विवेदीजी साधारणतः हिंदी, उर्दू, अँगरेजी आदि सभी भाषाओं के शब्दों का व्यवहार करते तो थे, परंतु स्थान की उपयुक्तता का विचार रखते थे। इसके अतिरिक्त उनका शब्द-संग्रह भावानुकूल और व्यवस्थित होता था। प्रत्येक शब्द शुद्ध रूप में लिखा जाता था और ठीक उसी अर्थ में जो अर्थ अपेक्षित होता था। उनकी वाक्य-रचना भी सीधी और हिंदी प्रकृति के अनुरूप होती थी। उसमें कहीं भी उर्दू ढंग का विन्यास न मिलता था। शब्दों के अच्छे उपयोग और गठन से उनके सभी वाक्य दृढ़ एवं भाव प्रदर्शन में स्पष्ट होते थे। छोटे-छोटे वाक्यों में बल तथा चमत्कार लाते हुए गूढ़ विषयों तक की स्पष्ट अभिव्यंजना द्विवेदीजी के बाएँ हाथ का खेल था। उनके वाक्यों में ऐसी उठान और गतिशीलता दिखाई पड़ती थी जिससे भाषा में वही बल प्राप्त होता था जो अभिभाषण में। पढ़ते समय एक प्रकार का प्रवाह दिखाई पड़ता था। उनके वाक्यों में शब्द भी इस प्रकार बैठाए जाते थे कि यह

स्पष्ट प्रकट हो जाता था कि वाक्य के किस शब्द पर कितना बल देना उपयुक्त होगा; और वाक्य को किस प्रकार पढ़ने से उस भाव की व्यंजना होगी जो लेखक को अभीष्ट था।

द्विवेदीजी के पूर्व के लेखकों को जब हम वाक्य-रचना एवं व्याकरण में अपरिपक्व पाते हैं तब उनमें वाक्य-सामंजस्य खोजना अथवा वाक्य-समूह का विभाजन तथा विन्यास देखना व्यर्थ ही है। एक विषय की विवेचना करते हुए उसके किसी अंग का विधान कुछ वाक्य-समूहों में और उस अंग के किसी एक अंश का विधान एक स्वतंत्र वाक्य-समूह में सम्यक् रूप से करना तथा इस विवेचन-परंपरा का दूसरे वाक्य-समूह की विवेचन-परंपरा के साथ सामंजस्य स्थापित करना द्विवेदीजी ने आरंभ किया। इस विचार से उनकी भाषा-शैली में अच्छा उतार-चढ़ाव दिखाई पड़ता था। इसके साथ ही हम यह भी देखते हैं कि उनकी रचना में स्थान-स्थान पर एक ही बात भिन्न-भिन्न शब्दों में बार-बार कही गई है। इससे भाव तो स्पष्टतया बोधगम्य हो जाता है पर कभी-कभी एक प्रकार की विरक्ति सी होने लगती है।

ऐसे स्थलों पर यह स्पष्ट होता है कि पुनरुक्ति इस अभिप्राय से नहीं हुई है कि कथन में विशेष बल उत्पन्न हो वरन् इसलिए कि लेखक को पाठक की बुद्धि और अनुभूति पर अविश्वास रहता है। साधारणतः देखने से ही यह ज्ञात हो जाता है कि द्विवेदीजी ने आधुनिक गद्य-रचना को एक स्थिर रूप दिया है। इन्होंने उसका संस्कार किया; उसे व्याकरण और भाषा-संबंधी भूलों से अलग कर विशुद्ध बनाया और मुहावरों का चलती भाषा में सुंदरता से उपयोग कर उसमें बल का संचार किया। सारांश यह है कि उन्होंने भाषा-शैली को एक नवीन रूप देने की पूर्ण चेष्टा की।

उसको परिमार्जित, विशुद्ध एवं चमत्कारपूर्ण बनाकर भी व्यवहार-क्षेत्र के बाहर नहीं जाने दिया।

भाव-प्रकाशन के तीन प्रकार होते हैं—व्यंग्यात्मक, भावात्मक और विचारात्मक। इन तीनों प्रकारों के लिए द्विवेदीजी ने तीन भिन्न-भिन्न शैलियों का विधान उपस्थित किया। इस प्रकार के कथन का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि इस प्रकार की शैलियाँ इनके पूर्व प्रयुक्त ही नहीं हुई थीं, वरन् अभिप्राय यह है कि उनको निश्चयात्मक रूप अथवा स्थिरता नहीं प्राप्त हुई थी। इन तीनों शैलियों की भाषा भी भिन्न प्रकार की थी। भाव के साथ-साथ उसके वाग्विधान में भी अंतर उपस्थित हुआ। यह स्वाभाविक भी था। उनकी व्यंग्यात्मक शैली की भाषा एकदम व्यावहारिक होती थी। जिस भाषा में कुछ पढ़ी-लिखी, अँगरेजी का थोड़ा-बहुत ज्ञान रखनेवाली, साधारण जनता बातचीत करती है, उसी का उपयोग इस शैली के अंतर्गत होता था। उसमें उछल-कूद, वाक्य की सरलता एवं लघुता के साथ-साथ भावव्यंजना की प्रणाली भी सरल पाई जाती थी। भाषा उसकी मानो चिकोटी काटती चलती थी। उसमें एक प्रकार का मसखरापन कूट-कूटकर भरा रहता था और व्यंग्य भाव भी स्पष्ट समझ में आ जाता था। ऐसे स्थलों पर मुहावरों का व्यवहार कथन को बलिष्ठ और व्यंग्य को तीक्ष्ण बनाने में सहायक रहता था:—

"म्युनिसिपैलिटी के चेयरमैन (जिसे अब कुछ लोग कुरसीमैन भी कहने लगे हैं) श्रीमान् बूचा शाह हैं। बाप-दादे की कमाई का लाखों रुपया आपके घर भरा है। पढ़े-लिखे आप राम का नाम ही हैं। चेयरमैन आप सिर्फ इसलिए हुए हैं कि अपनी कारगुजारी गवर्नमेंट को दिखाकर आप रायबहादुर बन जायँ

और खुशामदियों से आठ पहर चौंसठ घड़ी घिरे रहें। म्युनिसिपैलिटी का काम चाहे चले चाहे न चले, आपकी बला से। इसके एक मेंबर हैं बाबू बख्शिशराय। आपके साले साहब ने फी रुपए तीन चार पंसेरी का भूसा (म्युनिसिपैलिटी को) देने का ठीका लिया है। आपका पिछला बिल १० हजार रुपए का था। पर कूड़ा-गाड़ी के बैलों और भैंसों के बदन पर सिवा हड्डी के मांस नजर नहीं आता। सफाई के इंसपेक्टर हैं लाला सतगुरुदास। आपकी इंस्पेक्टरी के जमाने में, हिसाब से कम तनख्वाह पाने के कारण, मेहतर लोग तीन दफे हड़ताल कर चुके हैं। नजूल जमीन के एक टुकड़े का नीलाम था। सेठ सर्वसुख उसके तीन हजार देते थे। पर उन्हें वह टुकड़ा न मिला। उसके छः महीने बाद म्युनिसिपैलिटी के मेंबर पं० सत्यसर्वस्व के ससुर के साले के हाथ वही जमीन एक हजार पर बेंच दी गई।"

इस वाक्य-समूह के शब्द-शब्द में व्यंग्य की झलक पाई जाती है। शब्दावली के संचयन में भी कुशलता है, क्योंकि उसी में यहाँ विशेष चमत्कार दिखाई पड़ता है। इसके उपरांत जब हम उनकी उस शैली के स्वरूप पर विचार करते हैं जिसका उपयोग उन्होंने प्रायः अपनी आलोचनात्मक रचनाओं में किया है तो हमें ज्ञात होता है कि इसी भाषा को कुछ और गंभीर तथा संयत करके, उसमें से मसखरापन निकालकर उन्होंने एक सर्वांग नवीन रूप का निर्माण कर लिया था। भाषा का वही स्वरूप और वही मुहावरेदानी है परंतु कथन की प्रणाली आलोचनात्मक तथा तथ्यातथ्य-निरूपक होने के कारण गांभीर्य और ओज से पुष्ट हो गई मालूम पड़ती। जैसे:—

"इसी से किसी किसी का ख्याल था कि यह भाषा देहली के

बाजार ही की बदौलत बनी है। पर यह ख्याल ठीक नहीं। भाषा पहले ही से विद्यमान थी और उसका विशुद्ध रूप अब भी मेरठ प्रांत में बोला जाता है। बात सिर्फ यह हुई कि मुसलमान जब यह बोली बोलने लगे तब उन्होंने उसमें अरबी-फारसी के शब्द मिलाने शुरू कर दिए जैसे कि आजकल संस्कृत जाननेवाले हिंदी बोलने में आवश्यकता से जियादा संस्कृत शब्द काम में लाते हैं। उर्दू पश्चिमी हिंदुस्तान के शहरों की बोली है। जिन मुसलमानों या हिंदुओं पर फारसी भाषा और सभ्यता की छाप पड़ गई है, अन्यत्र भी, उर्दू ही बोलते हैं। बस और कोई यह भाषा नहीं बोलता। इसमें कोई संदेह नहीं कि बहुत से फारसी-अरबी के शब्द हिंदुस्तानी भाषा की सभी शाखाओं में आ गए हैं। अपढ़ देहातियों ही की बोली में नहीं, किंतु हिंदी के प्रसिद्ध प्रसिद्ध लेखकों की परिमार्जित भाषा में अरबी-फारसी के शब्द आते हैं। पर ऐसे शब्दों को अब विदेशी भाषा के शब्द न समझना चाहिए। वे अब हिंदुस्तानी हो गए हैं और उन्हें छोटे-बच्चे और स्त्रियाँ तक बोलती हैं। उनसे घृणा करना या उन्हें निकालने की कोशिश करना वैसी ही उपहासास्पद बात है जैसी कि हिंदी से संस्कृत के घन, वन, हार और संसार आदि शब्दों को निकालने की कोशिश करना है। अँगरेजी में हजारों शब्द ऐसे हैं जो लैटिन से आए हैं। यदि कोई उन्हें निकाल डालने की कोशिश करे तो कैसे कामयाब हो सकता है।"

अधिकांश रूप में द्विवेदीजी की शैली यही है। उनकी अधिक रचनाओं में एवं आलोचनात्मक लेखों में इसी भाषा का व्यवहार हुआ है। इसमें उर्दू के भी तत्सम शब्द हैं और संस्कृत के भी।

वाक्यों में बल कम नहीं हुआ परंतु गंभीरता का प्रभाव बढ़ गया है। इस शैली के संचार में वह उच्छृंखलता नहीं है, वह व्यंग्यात्मक मसखरापन नहीं है जो पूर्व के अवतरण में था। इसमें शक्तिशाली शब्दावली में विषय का स्थिरतापूर्वक प्रतिपादन हुआ है, अतएव भाषा-शैली भी अधिक संयत तथा धारावाहिक हुई है। इसी शैली में जब वे उर्दू की तत्समता निकाल देते हैं और संस्कृत की तत्समता का उपयोग करते हैं तब हमें उनकी गवेषणात्मक अथवा विचारास्पद शैली दिखाई पड़ती है। साधारणतः भाव के अनुसार भाव-व्यंजना में दुरूहता आ ही जाती है, परंतु द्विवेदीजी की लेखन-कुशलता एवं भावों का स्पष्टीकरण एकदम स्वच्छ तथा बोधगम्य होने के कारण सभी भाव सुलझी हुई लड़ियों की भाँति पृथक्-पृथक् दिखाई पड़ते हैं। यों तो इस शैली में भी दो-एक उर्दू के शब्द आ ही जाते हैं पर वे नहीं के बराबर हैं। इसकी भाषा और रचना-प्रणाली से ही यह स्पष्ट झलक उठता कि इसमें गंभीर विषय का विवेचन हुआ है। यह सब होते हुए भी द्विवेदीजी की प्रतिनिधि-भाषा-शैली के तारतम्य में यह कुछ बनावटी अथवा गढ़ी हुई ज्ञात होती है। जैसेः—

"अपस्मार और विक्षिप्तता मानसिक विकार या रोग है। उसका संबंध केवल मन और मस्तिष्क से है। प्रतिभा भी एक प्रकार का मनोविकार ही है। इन विकारों की परस्पर इतनी संलग्नता है कि प्रतिभा को अपस्मार और विक्षिप्तता से अलग करना और प्रत्येक का परिणाम समझ लेना बहुत ही कठिन है। इसीलिए प्रतिभावान् पुरुषों में कभी-कभी विक्षिप्तता के कोई-कोई लक्षण मिलने पर भी मनुष्य उनकी गणना बावलों में नहीं करते।

प्रतिभा में मनोविकार बहुत ही प्रबल हो उठते हैं। विक्षिप्तता में भी यही दशा होती है। जैसे विक्षिप्तों की समझ असाधारण होती है, अर्थात् साधारण लोगों की सी नहीं होती, एक विलक्षण ही प्रकार की होती है, वैसे प्रतिभावानों की भी समझ असाधारण होती है। वे प्राचीन मार्ग पर न चलकर नए-नए मार्ग निकाला करते हैं, पुरानी लीक पीटना उनको अच्छा नहीं लगता।

"जिनकी समझ और जिनकी प्रज्ञा साधारण है, वे सीधे मार्ग का अतिक्रमण नहीं करते; विक्षिप्तों के समान प्रतिभावान् ही आकाश-पाताल फाँदते फिरते हैं। इसी से विक्षिप्तता और प्रतिभा में समता पाई जाती है।"

उपर्युक्त परिचय से स्पष्ट है कि पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी को विषयानुसार विविध शैलियों को अपनाना पड़ा था। अन्य अनेक भाषाओं में लिखित विभिन्न वैज्ञानिक एवं विचारात्मक विषयों की ओर हिंदीवालों को ले जाने में इन्होंने बड़ी सहायता की थी। अपनी 'सरस्वती' के प्रत्येक अंक में वे स्वयं नवीन जानकारी की अनेक बातें लिखते थे और दूसरे पंडितों को भी उत्साहित किया करते थे। ऐसे लेखों और टिप्पणियों में उनकी भाषा का स्वरूप सरल, बोधगम्य, व्यावहारिक और बड़ा आत्मीयतापूर्ण होता था। अपने समय के सामाजिक, राजनीतिक एवं साहित्यिक प्रश्नों पर भी वे निर्भीक होकर लिखा करते थे। इन प्रश्नों की छानबीन करके उनपर विरोधपूर्ण अथवा प्रशंसात्मक मंतव्य भी प्रकाशित किया करते थे। ऐसे स्थलों पर उनकी उग्रता, निर्भीकता और व्यंग्यात्मकता स्पष्ट दिखाई पड़ती है। विषय के प्रतिपादन में व्यंग्य, आक्षेप और संवेदनशीलता तो रहती ही थी साथ में

भाषा-शैली के उतार-चढ़ाव में भी तदनुसार तीव्रता, आवेश और वक्रता दिखाई पड़ती थी।

भाषाशैली के वृद्धिक्रम के विचार से ही यदि देखा जाय तो द्विवेदी जी का युग और उसमें उनकी देन महत्त्वपूर्ण प्रमाणित होगी। इस आधार पर भी उनको युग निर्माता ही मानना होगा।

———

जन्म १९३२] श्यामसुंदर दास [निधन २००२

श्यामसुंदरदास

१. जीवनवृत्त
२. चरित्र और प्रकृति
३. साहित्यिक कृतित्व

१

जीवन-वृत्त

किसी व्यक्ति के कर्तृत्व की महत्ता केवल इस बात से नहीं होती कि जीवन में उसने कैसे-कैसे कार्य किए, उनमें उसे कितनी सफलता मिली अथवा कितने उत्साह और सद्भाव से उसने अपने दायित्व का निर्वाह किया, वरन् यह विचार करना आवश्यक होना चाहिए कि कैसे समय में किन परिस्थितियों में और किन साधनों से उसने उद्योग किया। इस आधार पर स्वर्गीय साहित्यवाचस्पति रायबहादुर डाक्टर श्यामसुंदरदास के यदि उन कार्यों का विचार किया जाय, जिनके कारण उनके जीवन का महात्म्य है, तो यह स्पष्ट हो जायगा कि बिना सच्चे उत्साह, अखंड, विश्वास और विशिष्ट व्यक्तित्व के ऐसे दायित्वपूर्ण कार्य कलाप इतनी सफलता से संपादित नहीं किए जा सकते। अपने जीवन के पचास वर्षों में उन्होंने साहित्य और भाषा के विविध अवयवों का ऐसा संवर्धन किया कि आज उन्हें जिस गति और शक्ति की आवश्यकता पड़ रही है उसे वे योग्यतापूर्वक अंगीकार करने में सर्वथा सफल हैं। ऐसा करने में श्यामसुंदरदास-जी को अनेक विषम स्थितियों का सामना करना पड़ा था।

बीस वर्ष की अवस्था में जिस समय बाबू साहब ने हिंदी साहित्य की सेवा का दायित्व अपने ऊपर लिया उस समय हिंदी

भाषा का कोई अपना गौरव नहीं था। "इस समय हिंदी की बड़ी बुरी अवस्था थी; वह जीवित थी यही बड़ी बात थी। हिंदी का नाम लेना भी इस समय पाप समझा जाता था। कचहरियों में इसको बिल्कुल पूछ नहीं थी। पढ़ाई में केवल मिडिल क्लास तक इसको स्थान मिला था। पढ़नेवाले विद्यार्थियों में अधिक संख्या उर्दू लेती थी, परीक्षार्थियों में भी उर्दूवालों की अधिक संख्या रहती थी।......हिंदी बोलनेवाला तो गँवार कहा जाता था। वह बड़ी हेय दृष्टि से देखा जाता था..."। ऐसे प्रतिकूल वातावरण में बाबू साहब ने हिंदी के समुद्धार का प्रश्न उठाया था। उन्हें अपनी अंतःप्रेरणा पर सदैव विश्वास बना रहा। उसी के बल पर ऐसे विषम काल में भी उन्होंने भाषा संबंधी आंदोलन व्यापक रूप से आरंभ किया। उन्हें अपने अध्यवसाय, सच्चाई और कार्य-कुशलता पर विश्वास बना रहा। समय-समय पर सहयोगियों और सुअवसरों का योग भी मिलता गया और वे सफलता की ओर वेग से बढ़ते चले गए।

उनके सामाजिक और साहित्यिक जीवन का आरंभ उस समय से समझना चाहिए जब १६ जुलाई सन् १८९३ में नागरीप्रचारिणी सभा की स्थापना हुई। इस सभा को जन्म देकर स्वर्गीय बाबू साहब और उनके सहायकों ने हिंदी भाषा और साहित्य के उत्कर्ष और अभ्युत्थान में जो योग दिया है, वह इतिहास में सदैव अमर एवं उद्योग तथा अध्यवसाय का ज्वलंत उदाहरण बना रहेगा। हिंदी-साहित्य-संमेलन जैसी संस्था और 'सरस्वती' जैसी पत्रिका का सूत्रपात भी इसी सभा ने अथवा श्यामसुंदरदासजी ने ही किया था जो अपने-अपने ढंग से पल्लवित, पुष्पित और फलित होकर हिंदी की बहुमुखी उन्नति में निरंतर योग देती आई हैं।

नागरी-प्रचारिणी सभा की स्थापना से लेकर सन् १९०३ तक दस वर्षों में ही बाबू साहब ने हिंदी-भाषा और साहित्य के प्रसार के लिए जो कुछ किया वह इतना भव्य और उत्साहवर्द्धक था कि स्वर्गीय पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने थोड़े में उनकी प्रशंसा इस प्रकार की थी—"जिन्होंने बाल्यकाल ही से अपनी मातृभाषा हिंदी में अनुराग प्रकट किया, जिनके उत्साह और अभ्रांत श्रम से नागरी-प्रचारिणी सभा की इतनी उन्नति हुई, हिंदी की दशा सुधारने के लिए जिनके उद्योग को देखकर सहस्रशः साधुवाद दिए बिना नहीं रहा जाता, जिन्होंने विगत दो वर्षों में इस पत्रिका के संपादन कार्य का बड़ी योग्यता से निर्वाह किया उन विद्वान् बाबू श्यामसुंदरदास के चित्र को इस वर्ष के आदि में प्रकाशित करके 'सरस्वती' अपनी कृतज्ञता प्रदर्शित करती है।" उस चित्र के नीचे छपा था—"मातृभाषा के प्रचारक, विमल बी० ए० पास। सौम्य शीलनिधान, बाबू श्यामसुंदरदास"।

इन्हीं दस वर्षों के भीतर स्वर्गीय डाक्टर दास ने उन महत् कार्यों का भी सूत्रपात किया जिनके कारण हिंदी-प्रचार का कार्य सुदृढ़ नींव पर खड़ा हुआ और यथार्थतः साहित्य का अंकुरण हो सका। न्यायालयों में हिंदी-प्रचार (सन् १९००), वैज्ञानिक शब्दकोष का अपूर्व निर्माण, हिंदी के लेख तथा लिपि-प्रणाली की व्यवस्था पर विचार (सन् १८९८), हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों की खोज के लिए धन एकत्र करना (१८९९) आर्यभाषा पुस्तकालय की स्थापना, रामचरितमानस की प्रामाणिक टीका का प्रकाशन (सन् १९०३), सभा-भवन का निर्माण (सन् १९०२) इत्यादि सभी कार्य प्रायः साथ ही साथ आरंभ हुए। उक्त कार्यों के संपूर्ण संवर्धन का श्रेय बाबू साहब को प्राप्त था। इन

योजनाओं को कार्यान्वित करने में जो नाना प्रकार की कौटुंबिक, आर्थिक, सामाजिक तथा साहित्यिक अड़चनें मार्ग में आईं उनका जैसा सामना उन्होंने किया उसमें उनकी कर्मनिष्ठा, उत्साह, निर्भीकता, विश्वास-बल और अकथ परिश्रम का प्रमाण प्राप्त है। है। इन संघटन और संपादन-कार्यों के अतिरिक्त इसी काल के भीतर उन्होंने स्वयं रचना-कार्य का श्री गणेश किया और बीसों लेख लिखे जो 'सरस्वती' के आरंभिक वर्षों में प्रकाशित हुए थे।

इसके अनंतर बाबू साहब के कृतित्व, एकरसता और अपार क्षमता का पूरा-पूरा परिचय देनेवाला अभूतपूर्व ग्रंथ 'शब्दसागर' है। बीसों वर्ष (सन् १९०७ से लेकर १९२९) तक एकनिष्ठ होकर इसके लिए उन्हें तपस्या करनी पड़ी थी। वह समय उनकी साहित्यिक साधना का था। विविध योग्यता और रुचि-अरुचि के अनेक विद्वानों को संघटित करके उनसे काम लेते रहना, स्थान-स्थान पर दौड़कर धन का संचय करते चलना, ग्रंथ के संपादन और प्रकाशन में लगे रहना—दैवी प्रेरणा और अद्भुत धैर्य का काम था। इस ग्रंथ में लाखों के करीब शब्दों का परिचय है और इसके प्रकाशन में लाखों के करीब रुपये भी व्यय हुए हैं। इसे बाबू साहब के जीवन का सार-भूत स्तंभ कहना चाहिए। इसे प्रकाशित देखकर अनेकानेक देशी और विदेशी पंडितों ने उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। केवल एक यही ग्रंथ उनकी कीर्ति को अमर बनाने के लिए यथेष्ट है। ग्रंथ की समाप्ति पर उनके अभिनंदन के रूप में उन्हें जो कोशोत्सव स्मारक संग्रह समर्पित किया गया है उसके अग्रलिखित शब्दों में उनकी कृति का उचित ही बखान है—"अपने जन्मदाता श्रीयुत बाबू श्यामसुंदरदास बी० ए० को—जिनके परिश्रम, उद्योग और बुद्धिबल तथा जिनके

संपादन में हिंदी भाषा का सबसे बड़ा कोश हिंदी-शब्दसागर प्रस्तुत हुआ, उनके संमानार्थ तथा कीर्तिरक्षार्थ काशी नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा निवेदित"। इसी ग्रंथ की भूमिका के प्रसंग में बाबू साहब ने 'हिंदी-साहित्य का इतिहास' सन् १९३० में लिखा था। इस ग्रंथ में किसी काल के कवियों की चुनी कविताएँ संगृहीत नहीं हैं और न व्यक्तिगत रूप में उनके प्रति कोई मत ही प्रगट किया गया वरन् भिन्न-भिन्न कालों की सामूहिक प्रवृत्तियों का विवेचन और वर्णन ही लक्ष्य रखा गया है। इसके अतिरिक्त इसी समय पचासों अन्य अनेक ग्रंथों का संपादन और उनके सुचारु रूप से छापने की व्यवस्था भी वे करते रहे।

बाबू साहब के साहित्यिक जीवन का आभोग-युग सन् १९२१ से आरंभ हुआ जब वे काशी हिंदू विश्वविद्यालय में आए। इसे आभोग-युग इसलिए कहना चाहिए कि इसके पूर्व का काल अनवरत श्रम, संघर्ष, प्रयत्न चिंता और तपस्या में बीता था और अब उन्हें अपनी साधना एवं कृति को सजाने का अवसर मिला। यों तो दायित्वपूर्ण संघटन और उद्योग से अभी भी पीछा नहीं छूटा था, परंतु गति में अब उतना आवेग नहीं रह गया था। जब से उन्होंने विश्वविद्यालय के हिंदी-विभाग का सूत्र अपने हाथ में लिया उस समय से उनका शारीरिक श्रम कुछ कम हो गया था और उनके कौटुंबिक जीवन की वस्तुस्थिति भी अपेक्षाकृत कुछ अनुकूल हो गई थी। अतएव वे कुछ शांति का अनुभव करने लगे थे। इस समय शारीरिक गति में अवश्य कुछ स्थिरता आई पर अभी भी काम और दायित्व कम नहीं था।

हिंदू विश्वविद्यालय का हिंदी-विभाग अपने ढंग का सर्वप्रथम

विभाग था। इसलिए उसके संघटन और संचालन की व्यवस्था में विशिष्ट क्षमता की अपेक्षा थी। बाबू साहब ने अपने अनुभव के बल और सुबुद्धि से इस अपेक्षा की पूर्ति बड़ी तत्परता से की और अपने कार्यकाल के अंत तक बड़ी कुशलता एवं सफलता से अध्यक्ष-पद का निर्वाह किया था। इस क्षेत्र में भी आकर उन्हें नवीन समस्याओं का सामना करना पड़ा। ऊँची से ऊँची कक्षाओं में अध्ययन-अध्यापन की विधि-प्रणाली का कोई रूप अभी तक स्थिर नहीं हुआ था, नए अध्यापकों की शिक्षण-पद्धति में गांभीर्य-युक्त एकस्वरता उत्पन्न करना आवश्यक था। नव-नव पाठ्यग्रंथों का वर्गीकरण ही नहीं वरन् उनकी रचना करनी और करानी थी। पठन-पाठन के साथ-साथ परीक्षा की योग्यता का स्तर सुनिश्चित करना अनिवार्य हो उठा। इस क्षेत्र में आकर भी उन्हें नव-निर्माण का ही दायित्व अँगेजना पड़ा। फिर भी जिस सचाई, संलग्नता, योग्यता और प्रेम के साथ उन्होंने इन लक्ष्यों की प्राप्ति की वह आदर्श हिंदी के वर्तमान कर्णधारों के लिए अनुकरण का विषय है।

इस कार्यकाल में आवश्यकतानुसार उन्होंने कई उपादेय ग्रंथों का निर्माण किया, जैसे—भाषाविज्ञान, रूपकरहस्य (१९३१) साहित्यालोचन (१९२२)। ये ग्रंथ अवश्य ही ऐसे विषयों पर हैं जो ऊँची कक्षाओं के विद्यार्थियों के पठन-पाठन के लिए नितांत आवश्यक थे। इन पर पाश्चात्य साहित्यों में तो प्रभूत रचनाएँ प्राप्त थीं परंतु हिंदी भाषा में उस समय तक कुछ नहीं था। इसलिए विचारशील आचार्य ने अपने दायित्व का अनुभव किया और इस न्यूनता के उच्छेदन में जुट गए। उक्त ग्रंथों के साथ-साथ उनकी अन्य पुस्तकें भी प्रकाशित होती रहीं, जैसे—हिंदी-भाषा

का विकास, गद्य-कुसुमावली, भारतेंदु हरिश्चंद्र (सन् १९२७), गोस्वामी तुलसीदास (सन् १९३१)। इनके अतिरिक्त इसी समय में इन्होंने अनेक अन्य ग्रंथों का भी संग्रह और संपादन किया और बहुत से लेख भी लिखे जो प्रायः विद्यार्थियों के लिए उपयोगी और सहायक सिद्ध हुए।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि पचास वर्षों तक श्यामसुंदरदासजी एकरस और एकचित्त होकर हिंदी-साहित्य का निर्माण एवं पोषण करते रहे। इतना ही नहीं, न जाने कितनों को उन्होंने साहित्यिक बना दिया, न जाने कितनों को लेखक और अध्यापक बनाया। उन्हें निरंतर वर्तमान का सर्जन और भविष्य का स्पष्टीकरण करते बीता। हिंदू विश्वविद्यालय के हिंदी-विभाग का संघटन करके अथवा काशी नागरी-प्रचारिणी सभा की सृष्टि और संवर्द्धन करके उन्होंने अपने को ही नहीं वरन् संपूर्ण हिंदी-जगत को अमरत्व प्रदान किया है। हिंदी प्रसार और साहित्य के गत पचास वर्ष उनके कृतित्व के जीवित इतिहास हैं। महाकवि मैथिलीशरणजी के शब्दों में नितांत यथार्थ ही है:—

"हिंदी के हुए जो विगत वर्ष पचास।
नाम उनका एक ही है श्यामसुंदरदास ॥"

———

२

चरित्र और प्रकृति

संसार में जितने भी महापुरुष हुए हैं उनके जीवन-वृत्त से कहीं अधिक आकर्षण उनके व्यक्तिगत वृत्त में दिखाई पड़ता है। उनके स्वभाव और प्रकृति में कुछ ऐसा निरालापन अवश्य मिलता है जिसके कारण उनका व्यक्तित्व साधारण स्तर से कहीं अधिक ऊपर उठा है। इस स्वभाव-प्रकृति का भी विकास होता चलता है और जीवन की धारा में जो नाना प्रकार की स्थितियों और वातावरण का निरंतर संघर्ष चला करता है, उसी के बीच से चलकर उसका रूप स्थिर होता है। इसीलिए इसका उस पर और उसका इस पर प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार मनुष्य के चरित्र-प्रकृति और उसके जीवन की विभिन्न दशाओं में एक अटूट योग बना रहता है और दोनों में अन्योन्याश्रय संबंध स्थापित हो जाता है। स्वर्गीय श्यामसुंदरदासजी का जीवन आद्यंत संघर्ष और संघटन का क्रीड़ा-क्षेत्र बना रहा; साथ ही उन्होंने अपने क्षेत्र में बड़े ही महत्त्वपूर्ण कार्यों का संपादन किया। इससे उनके व्यक्तित्व एवं चरित्र की विशेषताओं की आलोचना आवश्यक है।

बाबू साहब का संपूर्ण जीवन सुंदर और महत्वपूर्ण कार्यों में समाप्त हुआ है। उनकी अभिरुचि सदैव ऐसे विषयों की ओर रही है जो यश और कीर्ति के कारण थे। उनकी संपूर्ण विचार-

धारा ऊर्ध्वगामी थी। बाधाओं से लड़ने की उनमें अपूर्व क्षमता थी। उनका सारा जीवन संघर्ष करते बीता। यह संघर्ष बहुमुखी था। पारिवारिक वातावरण कलह और अशांतिपूर्ण था; समाज की कठोरताओं और रूढ़ि-प्रेम के कारण भी समय-समय पर उन्हें चिंता का सामना करना पड़ा था; साहित्यिक क्षेत्र में भी उन्हें विभिन्न अवसरों और प्रसंगों पर अनेक व्यक्तियों के आक्षेपों एव विरोधों का आघात सहना पड़ा था। इसलिए निरंतर विरोध और चिंताग्रस्त स्थितियों में पड़ने के कारण उनमें एक प्रकार की कर्कशता और रूक्षता उत्पन्न हो गई थी। समयानुसार उसी का अनेक रूप में प्रदर्शन होता रहता था। इसी कर्कशता के परिणाम-रूप उनमें निर्भीकता और स्पष्टवादिता का अक्खड़ रूप भी उत्पन्न हो गया था। किसी-किसी अवसर पर उसका अनुकूल और कहीं-कहीं प्रतिकूल परिणाम उन्हें मिलता रहता था। यों तो स्पष्टवादी और निर्भीक होना चरित्र का गुण है पर उन्हीं गुणों ने बाबू साहब को प्रायः अप्रियभाषी भी बना दिया था और उन्हें सभी संस्थाओं में सदैव किसी न किसी विरोधी दल का सामना करना पड़ा था।

उनके चरित्र की प्रमुख विभूतियाँ तीन थीं—दृढ़ता, आत्म-विश्वास और स्वालंबन। इनके विकास का भी व्यक्तिगत कारण था। परिवार में ये सबसे बड़े भाई थे, मित्र-मंडली में भी अपनी कर्मनिष्ठा के कारण नेता बने रहे और साहित्य के क्षेत्र में तो आजन्म नेतृत्व ही करते रहे। सर्वत्र उन्हें अपने विचारों को स्थिर करके विश्वास के साथ काम करना पड़ता था, इसलिए अपनी ही शक्ति पर विशेष बल देने का अभ्यास हो गया था। आत्म-विश्वास और स्वावलंबन के अनुसारी परिणाम-रूप में जो उन्हें

निरंतर सफलता मिलती गई उसके कारण उनमें कर्तृत्वज्ञान और गर्वानुभूति की मात्रा भी प्रबल होती गई थी। यह आत्मानुभूति उनके व्यक्तित्व की प्राण-चेतना थी। इसी कारण उनमें अपूर्व तेजस्विता आ गई थी और उनके प्रतिद्वंदी उनसे सदा सशंक और भयभीत रहा करते थे। बहुतों को तो विरोध करने का भी साहस नहीं होता था। व्यक्तित्व का ऐसा भव्य स्वरूप पुण्य और साधना का ही प्रसाद मानना चाहिए।

पर इस विभूति ने उनमें एक दोष भी उत्पन्न कर दिया था; वे किसी की अध्यक्षता में कार्य नहीं कर सकते थे। इसी दोष के कारण किसी एक नौकरी पर वे अधिक काल तक टिक नहीं सके। यहाँ एक बात स्मरण रखने योग्य है। कहीं से किसी ने उन्हें हटाया नहीं। वे स्वयं या तो स्थिति प्रतिकूल होने के कारण अथवा संमान का अभाव देखकर पृथक् हो जाते थे। स्थिर होकर अंत तक वे विश्वविद्यालय में ही रहे। इसका स्पष्ट कारण यही था कि वहाँ केवल उन्हीं का नेतृत्व, संघटन और शासन था। अपने शासन-क्षेत्र में किसी का हस्तक्षेप वे सहन नहीं कर पाते थे और अपने उन सहायकों की रक्षा भी करते थे जो उनका नियंत्रण और शासन मानते थे। यों तो संरक्षकता की वृत्ति उनकी बहुत ही व्यापक और उदार रही है पर विशेषतः उन लोगों पर उनकी कृपादृष्टि बहुत अनुकूल रहती थी जिनमें साहित्यिक अभि-रुचि तथा प्रतिभा का आभास दिखाई देता था। ऐसे आदमी को पहचान लेने की अद्भुत क्षमता उनमें अंत तक बनी रही। रुचि-अरुचि के विचार से वे ढुलमुल नीति के थे। आज किसी पर यदि विशेष प्रसन्न हैं तो कल तनिक में घोर रुष्ट हो जाते थे। किसी विषय में आज यदि एक विचार है तो कल और कुछ। साधारणतः

विचार करने से यह प्रशंसनीय नीति नहीं कही जा सकती पर बाबू साहब के साथ यह गुण की बात बन गई थी। यों तो अपनी बात पर अड़ जाने की आदत उनमें थी पर विशेषकर वे जिद तभी पकड़ते थे जब उन्हें अपनी संमान-रक्षा में कुछ आशंका हो उठती थी। तर्क और बुद्धि के बल पर जहाँ तक वे अपनी बात पर अड़ सकते थे, अड़े रहते थे पर यदि विरोधी पक्ष के तर्क से वे परास्त हो जाते थे तो सुधार स्वीकार करने में भी संकोच नहीं करते थे। दुराग्रह का रोग उनमें नहीं था।

एक लक्ष्य को लेकर किस प्रकार एकरस होकर अपने सारे जीवन को उसकी सिद्धि में अर्पित कर देना चाहिए इस बात का सच्चा उदाहरण बाबू साहब का जीवन है। हिंदी के समुद्धार का जो बीड़ा उन्होंने स्वीकार कर लिया था उसके दायित्व का निर्वाह प्राण रहते तक उन्होंने किया। मृत्यु के चार घंटे पहले तक उन्हें अपने निबंधों के संग्रह के प्रकाशन की चिंता बनी रही। काशी की नागरीप्रचारिणी सभा, हिंदी-पुस्तकों की खोज और शब्द-सागर उनके मनोयोग के सुंदरतम प्रमाण हैं। विविध प्रकार के प्रलोभनों और आकर्षणों के रहने पर भी सभा को छोड़कर उन्होंने न तो किसी अन्य संस्था का कार्यभार कभी स्वीकार किया और न किसी अन्य लक्ष्य को ही अपनाया। जितना भी शारीरिक और बौद्धिक बलबूता उनमें था उसे उन्होंने सभा के द्वारा ही प्रकट किया। एक आदमी के कर्तृत्व-स्वरूप एक संस्था इतने प्रसारगामी कार्य-व्यापार का संपादन कर सकती है यही आश्चर्य का विषय है। इस विषय में बाबू साहब के चरित्र की मुख्य विशेषताएँ दिखाई पड़ती हैं—धैर्य, अध्यवसाय, कष्ट-सहिष्णुता, सूझ, तत्पर बुद्धि, उत्साह और अथक श्रम इत्यादि

अनेक गुण उनमें थे और इनके प्रयोग का क्रीड़ाक्षेत्र था साहित्य-संसार। उनकी यह प्रकृति थी कि एक बात निश्चित हो जाने पर उसके पीछे पड़ जाते थे। जब तक उसे सिद्ध नहीं कर लेते थे वे साँस नहीं लेते थे। जो उनके वेग के साथ दौड़ पड़ते थे वे उनको प्रिय थे और जो ढीलढाल करने लगते थे उनके विरोध और अरुचि के विषय बन जाते थे।

बहुमुखी संघर्षों के घात-प्रतिघात में पड़े रहने के कारण उनके व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में एक प्रकार का चौकन्ना-पन पैदा हो गया था। इसलिए वह किसी का विश्वास तब तक नहीं करते थे जब तक कि उसके लिए अनुकूल प्रमाण नहीं मिल जाता था। तब तक उसे अपना अंतरंग भी नहीं बनाते थे। और न अपने मंतव्य ही उसके संमुख प्रकट करते थे। नेता की भाँति भिन्न-भिन्न दिशाओं में दूसरों को सहायता देते और दूसरों से काम लेते रहे। नियंत्रण और संघटन करना, अपने संरक्षण में पड़े हुए साहित्यिकों और विद्यार्थियों को काम देना और पूरा कराना उनका मुख्य व्यापार था। अतएव अन्यकृत उपकारों की व्याप्ति के विषय में उन्हें प्रायः भ्रांति हो जाया करती थी और वे अन्यकृत उपकारों की उपेक्षा कर जाया करते थे। कभी-कभी उनके प्रिय लोग भी इस दोष के कारण दुखी हो बैठते थे। निरंतर नायकत्व का आभोग करते रहने से और अपने साथवालों को नियम इत्यादि के अनुसार चलाते रहने से उनमें निर्दिष्ट समय में, निश्चित नियमा-नुसार, मर्यादा-पूर्ण ढंग से काम करने और कराने का प्रेम उत्पन्न हो गया था। इसीलिए उनमें अनुशासन-प्रेम और मर्यादा का विचार विशेष रूप से बढ़ा था। स्पष्टवादिता के साथ मिल

कर यही अनुशासन-प्रियता उनको भयप्रद बनाए रहती थी, उनकी अध्यक्षता में पढ़ने-लिखने वाले विद्यार्थी और उनके संरक्षण में कार्य करनेवाले उनके सहायक उनसे सशंक एवं सजग रहा करते थे। चरित्र की ये सभी विशेषताएँ प्रायः बुद्धि-प्रधानता की सूचक हैं। बाबू साहब के संपूर्ण जीवन की यदि विधिवत् मीमांसा की जाय तो इतना अवश्य स्पष्ट होगा कि उनमें जितनी बुद्धि की प्रबलता थी उतनी भावुकता-परक सहृदयता की नहीं। थोड़े में कहा जा सकता है कि उनका जीवन ऊर्ध्वगामी बुद्धि का वैभवपूर्ण प्रदर्शन था।

डाक्टर श्यामसुंदरदास का व्यक्तित्व अपने विशिष्ट कृतित्व के कारण आदरणीय, अनुभव के कारण गांभीर्यपूर्ण और साहित्यिक साधना के कारण भव्य था। उनकी बातचीत में सफाई, रहन-सहन में सफाई, जीवन और चरित्र में सफाई—सभी ओर से शुद्धता तथा सुस्पष्टता का आभास मिलता था। हिंदी-साहित्य के सर्जन और संवर्धन करने वालों की श्रेणी में बाबू साहब का व्यक्तित्व बेजोड़ था।

———

३

साहित्यिक-कृति

बाबू साहब की साहित्यिक-कृति का भी इतिहास है। उनकी साहित्यिक कृतियों को ६ विभागों में बाँटा जा सकता है:—

क्रमशः (१) मौलिक रचनाएँ, (२) संपादित ग्रंथ, (३) संकलित ग्रंथ, (४) पाठ्य पुस्तकें, (५) लेख, (६) वक्तृताएँ। इनकी सूची इस प्रकार है। कोष्ठों में दी हुई संख्या उन ग्रंथों के प्रकाशित होने की तिथि है।

मौलिक-रचनाएँ :—

१—नागरी कैरैक्टर (१८९६)

२-७—ऐनुअल रिपोर्ट ऑन द सर्च ऑव हिंदी मैनुस्क्रप्ट्स फार १९०० (१९०३), १९०१ (१९०४) १९०२ (१९०६) १९०३, (१९०५), १९०४ (१९०७) १९०५ (१९०८)

८—फर्स्ट ट्रीनियल रिपोर्ट आन द सर्च आव मैनुस्क्रप्ट्स फार १९०६-८ (१९१२)

९—हिंदी-कोविद रत्नमाला, भाग १ और २ (१९०९, १९१४)।

१०—साहित्यालोचन (१९२२, १९३७, १९४१, १९४३)।

११—भाषाविज्ञान (१९२३, १९३८, १९४५)।

१२—हिंदी-भाषा का विकास (१९२४)।

१३—हस्तलिखित हिंदी-पुस्तकों का विवरण (१९२३)।

१४—गद्यकुसुमावली (१९२५)।

१५—भारतेंदु हरिश्चंद्र (१९२७)।

१६—हिंदी भाषा और साहित्य (१९३०, १९३७, १९४४)।

१७—गोस्वामी तुलसीदास (१९३१) एकैडमी।

१८—रूपक रहस्य (१९३१)।

१९—भाषा-रहस्य, भाग १ (१९३५)।

२०—हिंदी के निर्माता, भाग १ और २ (१९४०—४१)।

२१—मेरी आत्मकहानी (१९४१)।

२२—गोस्वामी तुलसीदास (१९४०, इण्डियन प्रेस)।

(२) *संपादित ग्रंथ :—*

१—चंद्रावती अथवा नासिकेतोपाख्यान (१९०१)।

२—छत्रप्रकाश (१९०३)।

३—रामचरितमानस (१९०४, १९१६, १९३९)।

४—पृथ्वीराजरासो (१८०४-१२)।

५—हिंदी वैज्ञानिक कोश (१९०६)।

६—वनिता-विनोद (१९०६)।

७—इंद्रावती भाग १ (१९०६)।

८—हम्मीर रासो (१९०८)।

९—शकुंतला नाटक (१९०८)।

१०—प्रथम हिंदी साहित्य-संमेलन की लेखावली (१९११)।

११—बाल विनोद (१९११)।

१२—हिंदी शब्दसागर, खंड १-४ (१९१६—२६)।

१३—मेघदूत (१९२०) ।

१४—दीनदयालगिरि ग्रंथावली (१९३१) ।

१५—परमाल रासो (१९२१) ।

१६—अशोक की धर्मलिपियाँ (१९२३) ।

१७—रानी केतकी की कहानी (१९२५) ।

१८—भारतेंदु-नाटकावली (१९२७) ।

१९—कबीर ग्रंथावली (१९२८) ।

२०—राधाकृष्ण-ग्रंथावली (१९३०) ।

२१—सतसई-सप्तक (१९३३) ।

२२—द्विवेदी अभिनंदन-ग्रंथ (१९३३) ।

२३—रत्नाकर (१९३३) ।

२४—बाल शब्दसागर (१९३५) ।

२५—त्रिधारा (१९४५) ।

२६—नागरीप्रचारिणी पत्रिका १–१८ भाग ।

२७—मनोरंजक पुस्तकमाला १–५० संख्या ।

२८—सरस्वती (१९००, १९०१, १९०२) ।

(३) संकलित ग्रंथ—

१—मानस-सूक्तावली (१९२०) ।

२—संक्षिप्त रामायण (१९२०) ।

३—हिंदी निबंधमाला भाग १–२ (१९२७) ।

४—संक्षिप्त पद्मावत (१९२७) ।

५—हिंदी निबंध रत्नावली भाग १, (१९४१) ।

(४) पाठ्य पुस्तक (संग्रह)

१—भाषा सार-संग्रह भा० १, (१९०२)

२—भाषा पत्रबोध (१९०२)

३—प्राचीन लेखमणिमाला (१६०३) ।

४—आलोक-चित्रण (१६०२)

५—हिंदी पत्र-लेखन (१९०४) ।

६—हिंदी प्राइमर (१९०५) ।

७—हिंदी की पहली पुस्तक (१६०५) ।

८—हिंदी ग्रामर (१६०६) ।

६—गवर्नमेंट आव इंडिया (१६०८) ।

१०—हिंदी संग्रह (१६०८) ।

१२—सरल संग्रह (१६१६) ।

१३—नूतन संग्रह (१६१६) ।

१४—अनुलेख माला (१६१६) ।

१५—नई हिंदी रीडर, भाग, ७ (१६२३) ।

१६—हिंदी संग्रह, भाग १, २ (१६२५) ।

१७—हिंदी कुसुम-संग्रह १, २ (१६२५) ।

१८—हिंदी कुसुमावली (१६२७) ।

१६—हिंदी प्रोज़ सिलेक्शन (१६२७) ।

२०—साहित्य-सुमन भा० १–४ (१६२८) ।

२१—गद्य-रत्नावली (१६३१) ।

२२—साहित्य-प्रदीप (१६३२) ।

२३—हिंदी गद्य-कुसुमावली भा० १-२ (१६३६, १६४५) ।

२४—हिंदी प्रवेशिका-पद्यावली (१६३६, १६४२) ।

२५—हिंदी प्रवेशिका-गद्यावली (१६३६, १६४२) ।

२६—हिंदी गद्य-संग्रह (१६४५) ।

२७—साहित्यिक लेख

(५) *लेख एवं निबंध—*

१—संतोष (१८९४)।

२—भरतवर्षीय आर्य भाषाओं का प्रादेशिक विभाग और परस्पर संबंध ··· (१८९४)।

३—नागर जाति और नागरी लिपि की उत्पत्ति (१८९४)।

४—पश्चिमोत्तर प्रदेश तथा अवध में अदालती अक्षर और शिक्षा (१८९८)।

५—भारतवर्षीय भाषाओं की जाँच (१८९८)।

६—शाक्यवंशीय गौतम बुद्ध (१८९९)।

७—जंतुओं की सृष्टि (१९००)।

८—शमशुल उल्मा मौलवी सैयद अली बिलग्रामी (१९००)।

९—पंडितवर रामकृष्ण गोपाल भंडारकर (१९००)।

१०—दानी जमशेद जी नौशेरवाँ जी ताता (१९००)।

११—भारतवर्ष की शिल्पशिक्षा (१९००)।

१२—बीसलदेव रासो (१९०१)।

१३—भारतेश्वरी महारानी विक्टोरिया (१९०१)।

१४—हिंदी का आदिकवि (१९०१)।

१५—शिक्षा (१९०१)।

१६—फतेहपुर सीकरी (१९०१)।

१७—नीति-शिक्षा (१९०२)।

१८—कर्तव्य और सत्यता (१९०२)।

१९—मुद्राराक्षस (१९०२)।

२०—रासो शब्द (१९०२)।

२१—यूनिवर्सिटी कमीशन (१९०२)।

२२—लाला व्रजमोहन लाल (१९०२)।

२३—नागरी अक्षर और हिंदी (१९०२)।

२४—दिल्ली दरबार (१९०३)।

२५—व्यायाम (१९०६)।

२६—चंदवरदाई (१९११)।

२७—हमारी लिपि (१९१३)।

२८—गोस्वामी तुलसीदास की विनयावली (१९२०)।

२९—हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों की खोज (१९२०)।

३०—रामावत संप्रदाय (१९२४)

३१—आधुनिक हिंदी गद्य के आदि आचार्य (१९२६)।

३२—भारतीय नाट्यशास्त्र (१९२६)।

३३—गोस्वामी तुलसीदास (१९२७, १९२८)।

३४—हिंदी साहित्य का बीरगाथा काव्य (१९२९)।

३५—बालकांड का नया जन्म (१९३१)।

३६—चंद्रगुप्त (१९३२)।

३७—देवनागरी और हिंदुस्तानी (१९३७)।

(६) *वक्तृताएँ*—

१—हिंदी साहित्य-संमेलन (प्रयाग)।

२—प्रांतीय हिंदी साहित्य-संमेलन (अलीगढ़)।

३—ओरियंटल कान्फ्रेंस (पटना)।

४— „ „ (बनारस)।

———
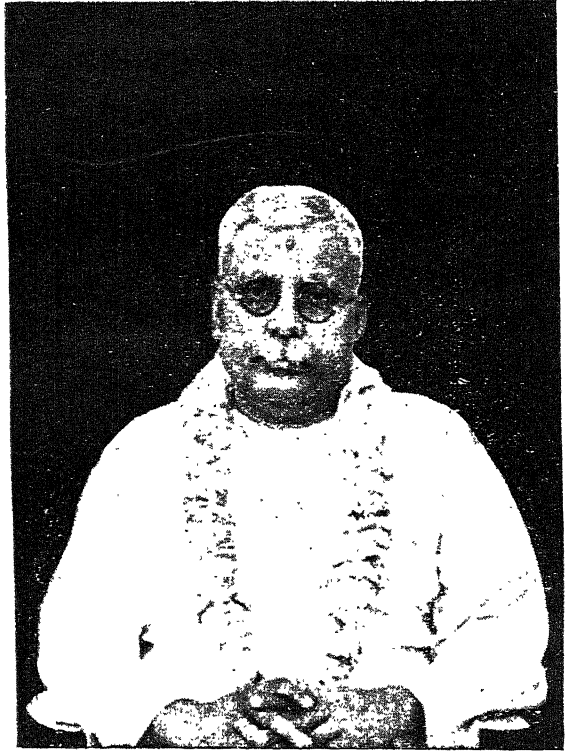
जन्म १९४१] रामचंद्र शुक्ल [निधन १९९८

रामचंद्र शुक्ल

१. शुक्लजी की आलोचना-शैली
२. शुक्लजी के निबंध

१

शुक्लजी की आलोचना-शैली

जिस प्रकार साहित्य के अन्य अंग अपनी रचना-पद्धति की विशेषता के अनुसार अनेक प्रकार के होते हैं उसी विचार से आलोचना की भी विविध शैलियाँ देखी जाती हैं। कहीं तो समीक्षक ग्रंथ अथवा लेखक के गुणावगुण-दर्शन मात्र को ही अपना उद्देश्य मानता है और यदि बहुत हुआ तो केवल इतना ही कहकर संतुष्ट हो जाता है कि अमुक कवि या लेखक का कितना महत्त्व है। इस प्रकार की आलोचना निर्णयात्मक कही जायगी। इस कोटि की रचना में समीक्षक इस विषय का निर्णय करने की मनःस्थिति में रहता है कि किसी काव्य-कृति के भीतर कितना अंश सुंदर है और कितना दोषपूर्ण। आलोचना की यह प्रणाली हिंदी के समीक्षा-क्षेत्र में बहुत दिनों तक अबाध रूप से चली। इसमें प्रायः दोष-दर्शन और छिद्रान्वेषण ही अधिक होता था। कृति तो पीछे छूट जाती थी और कृतिकार का व्यक्तित्व प्रत्यक्ष रखकर आलोचक समीक्षा के मूल सिद्धांत से दूर ही रह जाते थे। विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रकार की समीक्षा का क्षेत्र संकुचित तथा परिमित है। इसमें आलोचक की दृष्टि स्थूल अंशों की ओर अधिक रहती है। वह काव्य की बहिरंग

समता का सूत्र नहीं स्थापित होगा तो तुलना बलात् की जाती मालूम होगी। संपूर्ण सांस्कृतिक गठन की भिन्नतावाले दो देशों के किसी सुदूरवर्ती कालक्रम के दो साहित्य-निर्माताओं की तारतमिक समीक्षा—भले ही वे दोनों एक ही विषय के लेखक क्यों न हों, बहुत अच्छी नहीं हो सकती। समता के लिए सब प्रकार से समभाव की अपेक्षा रहती है।

समीक्षा का तीसरा ढंग है व्याख्यात्मक समीक्षा। इसमें किसी ग्रंथ की साधारण और विशिष्ट सभी प्रकार की बाह्य और आभ्यंतरिक परिस्थितियों, घटनाओं तथा विशेषताओं का व्याख्यात्मक ढंग से स्पष्टीकरण होता है। इसमें आलोचक के लिए यह आवश्यक होता है कि वह कृति के केवल चारों ओर देख-भाल कर अपना दायित्व समाप्त न कर दे वरन् उसके अंतर के स्वरूप से परिचय प्राप्त करे, उसकी आत्मा को पहचाने, और सूक्ष्म अनुशीलन द्वारा उसके स्वरूप का स्पष्ट रूप से विश्लेषण करे। इस प्रकार की समीक्षा में समीक्षक को कवि अथवा लेखक के हृदय से अपने हृदय का रागात्मक संबंध स्थापित करना पड़ता है। यदि वह ऐसा न कर सकेगा तो फिर कृतिकार द्वारा खड़ी की गई परिस्थितियों और व्यापारों के मूल में बैठी हुई वृत्तियों की व्याख्या नहीं कर सकेगा। इस प्रकार की आलोचना में समीक्षक की भावुकता, अनुभव, व्यावहारिकता तथा शास्त्र - ज्ञान का सूक्ष्म परिचय स्पष्ट रूप से मिलता है। निष्पक्षता और सहानुभूति इस प्रकार की समीक्षा के लिए प्राणवत् हैं।

पं० रामचंद्रजी शुक्ल में विचारशील पाठकों को उपर्युक्त आलोचना की तीनों शैलियों के दर्शन स्थान-स्थान पर मिलेंगे।

यों तो उनमें सर्वत्र प्राधान्य व्याख्यात्मक पद्धति ही का है, परंतु आवश्यकतानुसार यथा-स्थान अन्य प्रकार की पद्धतियों के भी उपयोग दिखाई पड़ेंगे। लेखक ने जायसी, सूर और तुलसी के काव्यगत सौष्ठव की मार्मिक व्याख्या विस्तारपूर्वक की है। किसी अंग को उसने छोड़ा नहीं। कवियों के हृदय-पक्ष के स्पष्टीकरण में भावुकता तथा सहानुभूति का और कलापक्ष के निदर्शन में शास्त्रीय ज्ञान का योग लेकर शुक्लजी ने वस्तुतः विषय का निरूपण इस विशद रूप में किया है कि सहृदय लोग इन कवियों की आत्मा भली भाँति पहचान सकते हैं।

इन आलोचनाओं के आरंभ में लेखक ने इन कवियों के ऐतिहासिक महत्व का निरूपण बड़े ही मनोयोगपूर्वक किया है, जिससे उसकी ऐतिहासिक समीक्षा की पटुता स्पष्ट लक्षित होती है। गोस्वामी तुलसीदास के आरंभिक अंश में यह विशिष्टता स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है। तत्कालीन समाज में जायसी और सूर की रचनाओं का महत्व और आवश्यकता थी, लेखक ने इसी का विवेचन ऐतिहासिक पद्धति से किया है। उस समय की सामाजिक और धार्मिक प्रगति का प्रभाव कवि पर किस प्रकार पड़ा और किस प्रकार उन आवश्यकताओं तथा प्रगतियों से प्रेरित होकर उसने अपना ऐकांतिक मार्ग निर्धारित किया इसका निरूपण आलोचक ने विधिवत् किया है। इसके अतिरिक्त समीक्षक ने इन रचनाओं के पूर्वापर प्रभाव तथा संबंध का भी योग्यतापूर्वक विश्लेषण किया है। इन आरंभिक अंशों के अतिरिक्त भी जहाँ कहीं आवश्यकता दिखाई पड़ी है, वहाँ लेखक ने इस पद्धति का आश्रय लिया है। जैसे जायसी के रहस्यवाद के विवेचन में सूफियों के अद्वैतवाद, प्राचीन यूनानी दार्शनिकों द्वारा प्रतिष्ठित

अद्वैतवाद तथा भारतीय ज्ञानकांड के मूल-स्वरूप उपनिषदों के अद्वैतवाद में तारतम्य दिखाया गया है। ऐसे स्थलों पर विषय-बोध के अतिरिक्त लेखक के गहन अध्ययन का पूरा आभास मिल जाता है।

तुलनात्मक समीक्षा में समीक्षक का व्यापक ज्ञान ही सहायक बनता है। अपने आलोच्य कवियों की विशेषताओं के कथन-प्रवाह में यदि समीक्षक का ध्यान अन्य कवियों की उसी प्रकार की मिलती-जुलती विशेषताओं की ओर आकृष्ट हो गया तो अपने विषय के स्पष्टीकरण तथा उसमें रोचकता उत्पन्न करने के विचार से उन्हें भी संमुख रख लेता है। इस प्रकार की तुलनात्मक दृष्टि से विषय-प्रतिपादन बलिष्ठ और व्यापक बन जाता है। शुक्लजी ने जायसी, सूर आदि की आलोचनाओं के योग में अन्य कवियों को लिया है। जायसी में विरह - ताप की मात्रा का आधिक्य सर्वत्र वर्णित है इसलिए उनके पक्ष का समर्थन करते हुए शुक्लजी ने अन्य श्रेष्ठ कवियों की एतद्विषयक प्रवृत्तियों की पूरी छानबीन की है। जायसी का ऐसा करना कवि-परंपरा सिद्ध है, क्योंकि थोड़ा-बहुत इसी प्रकार का वर्णन वाल्मीकि, कालिदास, सूर, तुलसी प्रभृति श्रेष्ठ कवियों ने भी किया है। आगे चलकर जायसी ने जिस प्रकार रहस्यमयी सत्ता का आभास देने के लिए रमणीय और मर्मस्पर्शी दृश्य-संकेत उपस्थित किए हैं उसी प्रकार की चेष्टा शेली और कबीर प्रभृति अन्य कवियों ने भी की है। इसी प्रकार सूर की अन्योक्तिवाली शैली का भी स्पष्टीकरण जायसी, कबीर, टैगोर इत्यादि की तुलना से किया गया है। अवसर के अनुरूप सूर और तुलसी की साम्यमूलक प्रवृत्तियों की भी तात्विक तुलना की गई है। वास्तव में यदि बुद्धि-योग से देखा जाय तो सूर-तुलसी

की ऐसी समीक्षा अधिक तात्विक और प्रभावशाली हुई है। विभिन्न समसामयिक कवियों की समान रचनाओं के अनेक उदाहरण दे-देकर उनकी विशेषताओं के उल्लेख करने से यह कहीं अधिक अच्छा होता है कि उनमें चतुर्दिक प्राप्त सौष्ठव की तात्विक विवेचना की जाय। इसके अतिरिक्त यों तो जहाँ कहीं अवसर आया है, लेखक ने विभिन्न कवियों की विशेषता का सूत्ररूप में उल्लेख किया है, जैसे "यद्यपि काव्य में हृदय-पक्ष ही प्रधान है, पर बहिरंग भी कम आवश्यक नहीं है। सूर, तुलसी, बिहारी आदि कवियों में दोनों पक्ष प्रायः सम हैं। जायसी में हृदय पक्ष की प्रधानता है, कला-पक्ष में त्रुटि और न्यूनता है। केशव में कला-पक्ष ही प्रधान है, हृदय-पक्ष न्यून है।"

समीक्षा की निर्णयात्मक प्रणाली शुक्लजी को अप्रिय सी थी। किसी कवि के साधारण गुण-दोषों का कथन मात्र कर तुरंत इस ओर प्रवृत्त होना कि वह अमुक कवि से बढ़कर है अथवा अमुक से घटकर, उन्हें अरुचिकर सा दिखाई पड़ता था। उक्त कवियों की तीनों आलोचनाओं में इस पद्धति की समीक्षा स्पष्ट रूप से किसी स्थल पर नहीं दिखाई पड़ेगी यह दूसरी बात है कि विस्तार-भय के कारण कहीं-कहीं उन्होंने गुण-दोषों की विस्तृत व्याख्या अथवा विवेचना न की हो; संक्षेप ही में कह दिया हो। अमुक कवि अमुक से बढ़-घटकर है, इस ओर वे बढ़े ही नहीं। "कहने का सारांश यह कि प्रेम नाम की मनोवृत्ति का जैसा विस्तृत और परिज्ञान सूर को था वैसा और किसी कवि को नहीं।", "इसका भी निर्णय हो जाना चाहिए।", "मानव-प्रकृति के जितने अधिक रूपों के साथ गोस्वामीजी के हृदय का रागात्मक सामंजस्य हम देखते हैं, उतना अधिक हिंदी भाषा के और किसी

कवि के हृदय का नहीं।" इस प्रकार के अनेक कथन प्राप्त होंगे; परंतु वे विवेचना के सारांश अथवा आरंभिक रूप में प्रयुक्त हुए हैं; न तो निर्णय देने के विचार से और न किसी को किसी से बढ़ाने-घटाने की ही दृष्टि से।

ऐतिहासिक, तुलनात्मक इत्यादि समीक्षा के जो स्वरूप शुक्लजी में दिखाई पड़ते हैं वे केवल आवश्यकता पड़ने के कारण साधारण ढंग से प्रयुक्त हुए हैं, वे साधन मात्र हैं। प्रकार भेद के विचार से उनमें प्राधान्य व्याख्यात्मक पद्धति ही का है। जायसी, सूर और तुलसी की आलोचनाओं का सौष्ठव उनकी व्याख्याओं में ही दिखाई पड़ता है। इन तीनों रचनाओं में लेखक ने कवियों के हृदय-पक्ष और बुद्धि-तत्त्व की—साधारण तथा विशिष्ट—सभी विशेषताओं की निष्पक्ष परंतु मार्मिक और सहानुभूतिपूर्ण व्याख्या की है। तीनों आलोचनाओं में आदि से लेकर अंत तक इसी प्रकार की समीक्षा-शैली का उपयोग हुआ है और यही पद्धति शुक्लजी की आलोचना की अपनी शैली है।

इस ढंग का अनुसरण करने से शुक्लजी अपनी सहृदयता तथा भावुकता का आश्रय लेकर आलोच्य कवि की मार्मिक उक्तियों की ऐसी विवेचना की है कि उसके अत्यंत समीप तक पहुँच गए हैं। इसके अतिरिक्त संसार के व्यावहारिक ज्ञान तथा शास्त्रीय पांडित्य के कारण वे काव्यों की बहिरंग विशेषताओं का भी सतर्क विश्लेषण कर सके हैं। इन कवियों की रचनाओं के अंतर्गत आए हुए पात्रों के विस्तृत जीवन-क्षेत्र की नाना परिस्थितियों, घटनाओं तथा कार्य-व्यापारों के मूल में बैठी हुई मानव-मनोवृत्तियों की जैसी स्वाभाविक और प्रभावशाली व्याख्या उन्होंने की है, उसमें मानव-हृदय एवं प्रकृति के अंतरतम प्रदेश

में प्रविष्ट होने की उनकी योग्यता सर्वत्र लक्षित होती है। यहाँ एक छोटा-सा उद्धरण लेकर उसका रूप स्पष्ट किया जा सकता है :—

"सिय मन रामचरन अनुरागा।
अवध-सहस-सम बन प्रिय लागा।
परन-कुटी प्रिय प्रियतम संगा।
प्रिय परिवार कुरंग विहंगा॥"

"अयोध्या से अधिक सुख का रहस्य क्या है ? प्रिय के साथ सहयोग के अधिक अवसर। अयोध्या में सहयोग और सेवा के इतने अवसर कहाँ मिल सकते थे ? जीवनयात्रा की स्वाभाविक आवश्यकताओं की पूर्ति वन में अपने हाथों से करनी पड़ती थी। कुटी छाना, स्थान स्वच्छ करना, जल भर लाना, ईंधन और कंद-मूल इकट्ठा करना इत्यादि वहाँ के नित्य जीवन के अंग थे। ऐसे प्राकृतिक जीवन में प्रेम का जो विकास हो सकता है वह कृत्रिम जीवन में दुर्लभ है। इस सुख का दूसरा कारण था, हृदय का प्रकृति के अनेक रूपों के साथ सामंजस्य, जिसके प्रभाव से 'कुरंग-विहंग अपने परिवार के भीतर जान पड़ते थे। जगज्जननी जानकी का हृदय ऐसा न होगा तो और किसका होगा ?"

आलोचना के धारावाही प्रवाह के अंतर्गत शुक्लजी की व्यक्तिगत रुचि-अरुचि के दर्शन भी, प्रच्छन्न रूप में ही सही, प्राप्त अवश्य होते हैं। ऐसे स्थल समीक्षा-विस्तार के भीतर न्यूनातिन्यून मात्रा में होने पर भी स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। व्यंग्य और आक्षेप के स्वरूप तो प्रायः सभी अंशों में मिलते हैं और वे सुंदर प्रतीत होते हैं; परंतु कहीं-कहीं इतने अधिक स्पष्ट और आदेशयुक्त

हैं कि खटक जाते हैं। प्रमाण-स्वरूप वह स्थल देखना चाहिए जहाँ उन्होंने सूरदास की अन्योक्ति-पद्धति की तुलनात्मक विवेचना करते हुए हिंदी के वर्तमान 'छाया-वाद' के ऊट-पटाँग स्वरूप की असारता का उल्लेख किया है। तुलसीदास का वह स्थल विचारणीय है जहाँ दस-पाँच पृष्ठों में ही वन-मार्ग में पथिक-वेश में जाते हुए राम-लक्ष्मण का उल्लेख तीन बार हुआ है। वह अंश मार्मिक और सुंदर अवश्य है, परंतु आलोचक यदि बारंबार एक ही बात को कहे तो उसमें उसका मुग्धत्व उस मात्रा को पहुँच जाता है, जिसमें उसकी विवेचना पंगु बनी दिखाई पड़ती है। इस विषय का अनेक बार उल्लेख स्वयं लेखक को खटका है। उसने लिखा है—"क्षमा कीजिएगा, यह दृश्य हमें बहुत मनोहर लगता है।"

समीक्षक के संमुख कभी-कभी ऐसे स्थल आते हैं, जिनकी कोमलता और सरलता से वह इतना विचलित हो उठता है तथा उसका अंतर् अनिर्वचनीय तुष्टि से इस प्रकार आपूर्ण हो जाता है कि वह अपनी भावनाओं को शब्द-जाल में फँसा नहीं पाता। ऐसी अवस्था का सामना शुक्लजी ऐसे मार्मिक और पटु आलोचक को बहुत कम करना पड़ा है। बुद्धि और भावुकता का इतना अच्छा सामंजस्य अभी तक समीक्षा-क्षेत्र में किसी ने नहीं दिखाया। बुद्धि की कुंठावस्था तथा भावुकता की प्रबलता शुक्लजी में एक ही दो स्थानों में दिखाई पड़ी है ऐसे स्थलों को प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा-शैली का अच्छा उदाहरण मानना चाहिए; जैसे—"इस सफाई के सामने हजारों वकीलों की सफाई कुछ नहीं है; इन कसमों के सामने लाखों कसमें कुछ नहीं हैं, यहाँ

वह हृदय खोल कर रख दिया गया है जिसकी पवित्रता को देख जो चाहे अपना हृदय निर्मल कर ले।"

शुक्लजी की अभिव्यंजना-पद्धति और लिखने के ढंग में यत्र-तत्र कुछ अंगरेजीपन हो सकता है, परंतु उनका दृष्टिकोण, मानदंड तथा परीक्षा-विधान शुद्ध भारतीय थे उनके तर्क करने का आधार और विचार करने की तुला संस्कृत काव्यशास्त्र के विधान के अनुसार रहती थी। वे शास्त्र पक्ष से रसवादी थे और रस के परिपाक को ही काव्य का आत्मा-पक्ष मानते थे। शुक्ल-जी सर्वत्र रस और उसके अंग-प्रत्यंगों के आधार पर ही आलोच्य काव्य की विवेचना और व्याख्या करते दिखाई पड़ते थे। आलं-कारिक सौंदर्य कलापक्षीय है; अतएव उसकी उपेक्षा न करते हुए भी उसे गौण स्थान देते थे। वस्तु-व्यंजना और चरित्र-चित्रण में भी भारतीय आदर्श को ही प्रधान मानते थे। मर्यादा के आग्रह का प्रतिपादन अथवा औचित्य-विवेचना में भी भारतीय संस्कृति और समाज को ही वे प्रधानता देते थे।

२

शुक्लजी के निबंध

प्रधानतया शुक्लजी आलोचक हैं। इसलिए उनकी रचनाओं में विचार-वितर्क और विश्लेषण-विवेचन ही मुख्य है। उनके लिखे हुए विचारात्मक निबंधों में भी उसी सूक्ष्मेक्षिका का प्रसार दिखाई पड़ता है। विषय के आग्रह से मनोवैज्ञानिक चिंतन-पद्धति का प्रयोग सर्वत्र मिलता रहता है। इस पद्धति का मूल रहस्य न समझने वाले पाठक प्रायः शुक्लजी के इन निबंधों को निबंध-रूप में स्वीकार करने में कुछ हिचकते हैं। पर इस हिचक अथवा संकोच का कोई बुद्धिसंगत कारण नहीं दिखाई पड़ता। यथार्थ में ये विचारात्मक निबंध मनोविज्ञान के तात्विक अनुशीलन अथवा शास्त्रीय स्वरूपबोध के परिचायक नहीं हैं। उनमें अनुभूतिमूलक कथन ही विशेष रूप में पाए जाते हैं। किसी मनोविकार के जो परिस्थितिजन्य अनेक प्रकार के भेद-वर्ग और अवांतर अवस्थाएँ गिनाई या समझाई गई हैं उनमें मनस्तत्व-संबंधी विवेचना उतनी नहीं की गई मिलती जितनी लोकगत व्यवहार की चर्चा। ऐसी अवस्था में इनकी निर्धारित संज्ञा 'निबंध' ही इनके लिए उपयुक्त है।

शुक्लजी ने निबंध के विषय में स्वयं कहा है—

"आधुनिक पाश्चात्य लक्षणों के अनुसार निबंध उसी को

कहना चाहिए जिसमें व्यक्तित्व अर्थात् व्यक्तिगत विशेषता हो। बात तो ठीक है यदि ठीक तरह से समझी जाय। व्यक्तिगत विशेषता का यह मतलब नहीं कि उसके प्रदर्शन के लिए विचारों की शृंखला रखी ही न जाय या जानबूझकर जगह जगह तोड़ दी जाय, भावों की विचित्रता दिखाने के लिए ऐसी अर्थयोजना की जाय जो उनकी अनुभूति के प्रकृत या लोकसामान्य स्वरूप से कोई संबंध ही न रखे अथवा भाषा से सरकसवालों की सी कसरतें या हठयोगियों के से आसन कराए जायँ जिनका लक्ष्य तमाशा दिखाने के सिवा और कुछ न हो।

"संसार की हरएक बात और सब बातों से संबद्ध है। अपने अपने मानसिक संघटन के अनुसार किसी का मन किसी संबंध-सूत्र पर दौड़ता है, किसी का किसी पर, ये संबंध-सूत्र एक दूसरे से नथे हुए, पत्ते के भीतर नसों के समान, चारों ओर एक जाल के रूप में फैले हैं। तत्त्वचिंतक या दार्शनिक केवल व्यापक सिद्धांतों के प्रतिपादन के लिए उपयोगी कुछ संबंध-सूत्रों को पकड़कर किसी ओर सीधा चलता है और बीच के व्योरों में कहीं नहीं फँसता। पर निबंध-लेखक अपने मन की प्रवृत्ति के अनुसार स्वच्छंद गति इधर उधर फूटी हुई सूत्र-शाखाओं पर विचरता चलता है। यही उसकी अर्थसंबंधी व्यक्तिगत विशेषता है"।[1]

"विचारों की वह गूढ़ गुंफित परंपरा उनमें (पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी में) नहीं मिलती जिससे पाठक की बुद्धि उत्तेजित होकर किसी नई विचार-पद्धति पर दौड़ पड़े। शुद्ध विचारात्मक निबंधों का चरम उत्कर्ष वहीं कहा जा सकता है जहाँ एक एक

---

१. हिंदी साहित्य का इतिहास, १९९७ संस्करण, पृ० ६०५-६।

पैराग्राफ में विचार दबा दबाकर कसे गए हों और एक एक वाक्य किसी संबद्ध विचार-खंड को लिए हों"।[१]

शुक्लजी द्वारा स्थापित उक्त मान्यता पर्याप्त मात्रा में स्पष्ट तथा सुबोध है। इसमें उन्होंने दो विशेषताओं की ओर ध्यान आकर्षित किया है। निबंध में व्यक्तित्व की पूरी झलक हो और वह सुगठित हो—आदि से अंत तक। अब जिन्हें शुक्लजी के अध्ययन-अध्यापन की पद्धति और प्रकृति का ज्ञान होगा उन्हें तो इन मान्यताओं का यथार्थ परिचय मिल जायगा। अन्य मीमांसकों को इस क्षेत्र की जानकारी प्राप्त करनी पड़ेगी। उनके लिए यह कहना पड़ेगा कि शुक्लजी के अध्ययन की परिपाटी ही निराली थी, व्यक्तिगत थी, व्यक्तित्व से भरी थी। शुक्लजी पढ़ते कम थे पर अध्ययन और चिंतन अधिक करते थे। वे किसी की रचना अथवा विचार-विमर्श पर स्वयं बहुत तर्क-वितर्क करते रहते थे और अपनी व्यक्तिगत विचार-परंपरा में अपने ढंग से या तो उसका समाहार कर लेते थे अथवा स्थिर रूप में शुद्ध अलग्योझा ही स्वीकार कर लेते थे। उनकी अपनी विचार-परंपरा में शास्त्र, जीवन और जगत् का समन्वय रहता था। अपने शास्त्रीय ज्ञान अथवा प्राप्ति को कहीं तो वे जीवन और जगत् के व्यावहारिक रूपों में ढालकर उसकी सच्ची प्रकृति को समझने की चेष्टा करते थे या सूक्ष्म विश्लेषण के द्वारा संधि ढूँढ़कर जीवन के अनुरूप शास्त्र की ही व्यवस्था कर लेते थे। इसी तरह विवेचना-क्रम को शास्त्रों से लेकर, अपनी विचारमयी अनुभूतियों की पूरी छानबीन करते थे। विचार, प्रवृत्ति और भावनाओं की सैद्धांतिक सत्ता को समझकर

---

१. वही, पृ० ६०९-१०।

काव्य, पुराण और इतिहास के साक्ष्य पर उसका शोधन करने के पश्चात् जीवन के साथ उसका संतुलन करते थे। इस प्रकार सार्वदेशिक सुस्पष्टता के वे बहुत कायल थे।

यह अर्जित और अनुभूतिमूलक बोधवृत्ति शुक्लजी की समस्त रचनाओं में दिखाई पड़ती है। निबंधों और अन्य स्थलों पर उनके बात कहने में जो एक प्रकार की सफाई मिलती है उसका रहस्य यही है। उनके सिद्धांत-प्रतिपादन अथवा अनुभूति प्रकाशन में कहीं भी कोई अंधकार नहीं मिलेगा, भले ही कोई उस सिद्धांत अथवा उसकी विवेचना से सहमत न हो, पर कोई उनकी कही अथवा लिखी हुई बात को अन्यथा रूप में समझे ऐसा नहीं हो सकता। इसी निर्भ्रांत विचार-परिष्कार का सीधा प्रभाव उनकी भाषाशैली पर लक्षित होता है। विषय जितना स्पष्ट उनके अंतःकरण में रहता था उतना ही उनकी लेखनी से निकलकर भी दिखाई पड़ता था। ठीक इसी अर्थ में भाषाशैली अंतःकरण की प्रतिच्छाया कही जाती है।

स्वच्छ चिंतन और व्यवहारमूलक परख के कारण शुक्लजी की रुचि-अरुचि सुनिश्चित आधार पर खड़ी दिखाई पड़ती थी। इसीलिए निबंध लिखते समय जहाँ उनकी रुचि के अनुकूल विषय एवं प्रसंग मिल जाता था वहाँ की सारी विचार-योजना और विवेचना-पद्धति में भावुकता का पर्याप्त योग प्राप्त होता था। इसी तरह जहाँ विषय की लपेट में ऐसा प्रसंग आ जाता था जिसके लिए उनके मन में अरुचि रहती थी वहाँ आक्षेप, व्यंग्य और आक्रोश का भी रूप स्पष्ट प्रकट हो जाता था। यह वैयक्तिक विशेषता उनकी सब प्रकार की कृतियों में समान रूप से प्रसरित दिखाई पड़ती है। इस रुचि-अरुचि-संबंधी कठोर ऋजुता के

अतिरिक्त शुक्लजी स्वभाव से ही गंभीर थे, पर विनोद-परिहास के भी पूरे पंडित थे। उनका संपूर्ण बाल्य और यौवनकाल खेत-खलिहानों तथा प्राकृतिक सुषमा के बीच व्यतीत हुआ था। इसलिए सर्वत्र सार्वदेशिक गांभीर्य के बीच उनकी प्रकृति-प्रियता और विनोदशीलता मुखरित मिलती है।

अध्ययन-अध्यापन के क्षेत्र में शुक्लजी के निबंधों का प्रचार उनके जीवनकाल में ही हो गया था। उन रचनाओं के संबन्ध में भिन्न-भिन्न प्रकार की आलोचनाएँ भी होती थीं और उनके कानों तक पहुँचती थीं। कुछ लोग ऐसे भी मिले जो यह समझते थे कि उनके निबंध प्रायः विषय-प्रधान होते थे। उनमें व्यक्ति की प्रधानता न होने से वे अपनी परिभाषा-परिधि के बाहर हो गए हैं। इसपर शुक्लजी ने अपनी ओर से आक्षेप का उत्तर देते हुए लिखा है :—

"इस पुस्तक में मेरी अंतर्यात्रा में पड़नेवाले कुछ प्रदेश हैं। यात्रा के लिए निकलती रही है बुद्धि, पर हृदय को भी साथ लेकर। अपना रास्ता निकालती हुई बुद्धि जहाँ कहीं भी मार्मिक या भावाकर्षक स्थलों पर पहुँची है वहाँ हृदय थोड़ा बहुत रमता और अपनी प्रवृत्ति के अनुसार कुछ कहता गया है। इस प्रकार यात्रा के श्रम का परिहार होता रहा है। बुद्धिपथ पर हृदय भी अपने लिए कुछ न कुछ पाता रहा है।

बस, इतना ही निवेदन करके इस बात का निर्णय मैं विज्ञ पाठकों पर ही छोड़ता हूँ कि ये निबंध विषय-प्रधान हैं या व्यक्ति-प्रधान।"[1]

---

१. चिंतामणि, प्रथम भाग, 'निवेदन'।

आमुख रूप में इतना कह चुकने पर अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि निबन्ध की जो परिभाषा स्वयं शुक्लजी ने उपस्थित की है और अपने आलोचकों को जो उन्होंने उत्तर दिया है उसके विचार से उनके निबन्धों की परीक्षा करने पर क्या परिणाम निकलता है ? इसके लिए साक्षी रूप में एक निबन्ध लेकर विवेचना की जा सकती है। 'लोभ और प्रीति' शीर्षक निबन्ध स्वयं लेखक को पसंद था और अन्य आलोचकों को भी प्रिय है। उसमें कृतिकार की सभी प्रवृत्तियाँ स्फुट हैं और सरलता से उनका दिग्दर्शन भी संभव है। विचार-विमर्श के लिए लक्ष्य केवल एक है—निबंध की उक्त परिभाषा के अनुरूप रचना में क्या विशेषताएँ मिलती हैं, कहाँ तक वह विषय-प्रधान है और कहाँ-कितनी लेखक के व्यक्तित्व की छाप है।

जहाँ तक वस्तु अथवा विषय की प्रधानता का प्रश्न है इतना तो आरंभ में ही स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि शुक्लजी के निबन्ध विचारात्मक अवश्य हैं पर विषय-प्रधान किसी भी अर्थ में नहीं है। मनोविकारों अथवा विभिन्न भावों की, जिस ढंग से तद्विषयक शास्त्रीय ग्रंथों में विवेचना की जाती है वह परिपाटी किसी भी निबंध में गृहीत नहीं हुई है। मनस्तत्त्व अथवा मनोविज्ञान के ग्रंथों की योजना ही भिन्न आधार पर होती है। वहाँ विचार-योजना का क्रम मूल आधार को आद्यंत इस प्रकार पकड़े रहता है कि विकास का उतार-चढ़ाव सुसंबद्ध तो बना ही रहता है पर उसकी एकोन्मुखता तर्कमयी दिखाई पड़ती है। विषय का प्रसार सर्वत्र शास्त्र की मान्य गतिविधि के अनुसार नियंत्रित होता है और अंगांगी सभी छोरों की व्यवस्था में एकसूत्रता सदैव परिव्याप्त रहती है। सैद्धांतिक विषय की विवेचना में विवेचक सर्वथा

तटस्थ एवं रूक्ष ढंग से बुद्धि-प्रधान रूप धारण किए रहता है। यहाँ रागात्मक तत्व मुखर नहीं होने पाता। अपनी व्यक्तिगत भाव-अरुचि के अनुरूप वह न तो कहीं यात्रा में अधिक रम सकता और न वैधानिक अथवा आवश्यक अंश की उपेक्षा कर शीघ्रता से आगे बढ़ जा सकता है। शुद्ध विषय-प्रधान मीमांसा में मीमांसक का स्वरूप जितना अधिक प्रच्छन्न अथवा ऊपरी भूमि में दूर रहेगा वस्तु अथवा विषय का बोध उतना ही अधिक स्फुट एवं शास्त्रीय सिद्ध होगा। उसके दृष्टांत भी विषय की प्रकृति के ही मेल में रहते हैं। उनमें भी मीमांसक का व्यक्तित्व झलकता नहीं।

इस प्रकार की कोई बात शुक्लजी के किसी निबंध में, कहीं नहीं प्राप्त होती—विशेषकर 'लोभ और प्रीति' में जहाँ तक सामान्य रूप से लिखने-पढ़ने में देखा गया है सिद्धांत की दृष्टि से इस प्रकार लोभ और प्रीति का निवेदन ही नहीं किया गया है, जिस प्रकार किसी मनोविकार का आरंभिक परिचय शुक्लजी उपस्थित करते हैं वहीं से लेखक मनस्तत्व के सूक्ष्म स्तर को छोड़ कर अनुभूतिमूलक व्यवहार-भूमि पर खड़ा दिखाई पड़ता है फिर दो असमान लक्षित होनेवाले भावों के मूल में बैठी हुई एक ही मनोवृत्ति, परिस्थिति और दृष्टिभेद से कैसे दो भिन्न स्वरूप धारण कर व्यवहार जगत् और जीवन में विभिन्न रंग रूप प्रकट करती है इसको भी जिस प्रकार व्यावहारिक उदाहरणों से शुक्लजी ने समझाया है वह भी सिद्धांत-विवेचना की पद्धति पर नहीं है, यदि विषय के प्रसार-क्रम को देखा जाय तो वह भी न तो वैज्ञानिक ढंग से सजाया गया है न उसके भीतर आनेवाले विविध अवांतर भेदों का मनस्तत्व-संबंधी स्वरूप स्थिर किया गया है, ऐसी दशा में विषय-प्रधान रचनाओं अथवा ग्रंथों में प्राप्त होनेवाले कोई

लक्षण इस निबंध में नहीं दिखाई पड़ते। तर्काश्रयी तत्वचिंतन अथवा शुष्क वस्तुप्रधान कथन में निम्नलिखित पदावली कहीं भी व्यवहृत नहीं मिलेगी, और न व्यक्तिगत आक्रोश एवं उद्वेग ही इतनी छूट के साथ व्यक्त होंगे:—

'बेचारा बहुत अच्छा था प्रिय के मुख से इस प्रकार के कुछ शब्दों की संभावना पर ही आशिक लोग अपने मर जाने की कल्पना बड़े आनंद से किया करते हैं।'

'जब एक ही को चाहनेवाले बहुत से हो गए तब एक की चाह को दूसरे कहाँ तक पसंद करते, लक्ष्मी की मूर्ति धातुमयी हो गई, उपासक सब पत्थर के हो गए, धीरे धीरे यह दशा आई कि जो बातें पारस्परिक प्रेम की दृष्टि से, धर्म की दृष्टि से की जाती थीं वे भी रुपए पैसे की दृष्टि से होने लगीं, आजकल तो बहुत सी बातें धातु के ठीकरों पर ठहरा दी गई हैं, पैसे से राज-संमान की प्राप्ति और न्याय की प्राप्ति होती है, जिनके पास कुछ रुपया है बड़े बड़े विद्यालयों में अपने लड़कों को भेज सकते हैं, न्यायालयों में फीस देकर अपने मुकद्मे दाखिल कर सकते हैं और मँहगे वकील बैरिस्टर करके बढ़िया खासा निर्णय करा सकते हैं, अत्यंत भीरु और कायर होकर बहादुर कहला सकते हैं, राज-धर्म, आचार्यधर्म, वीरधर्म सब पर सोने का पानी फिर गया, सब टकाधर्म हो गए, धन की पैठ मनुष्य के सब कार्यक्षेत्रों में करा देने से, उसके प्रभाव को इतना विस्तृत कर देने से ब्राह्मणधर्म और क्षात्रधर्म का लोप हो गया, केवल वणिकधर्म रह गया।'

इसी प्रकार की भाषाशैली में आगे-पीछे लेखक ने बहुत कुछ लिखा है। जीवन पर पैसे का प्रभाव कितना छाया हुआ है इस विषयांतर पर इतना जमकर, और वह भी ऐसी पद्धति से, अपने

हृदय में संचित भावनाओं को आक्षेपयुक्त ढंग से प्रकट करना इस बात को प्रमाणित करता है कि विषय का उतना आकर्षण नहीं है जितना वैयक्तिक विचार-अनुभूति के प्रकाशन का। मनस्तत्व-संबंधी शास्त्रीय विवेचना में ऐसे प्रासंगिक अंगों का इतना उग्र कथन अथवा विस्तार से प्रतिपादन नहीं हो सकता। पैसे का मुँह ताकनेवाले समाज से लेखक कितना क्षुब्ध और असंतुष्ट है उसकी विस्तृत व्यंजना उसके व्यक्तित्व का ही उद्‌घोष कर रही है। किसी विषय का सामान्य एवं व्यावहारिक वर्गीकरण करके तुरंत अपनी रुचि के अनुरूप क्षेत्र चुनकर उसी ओर झुक पड़ना, विषय की प्रधानता नहीं है वह तो कृतिकार के व्यक्तित्व का प्रकाशन है। इसी प्रणाली को लक्ष्य करके शुक्लजी ने कहा था—'निबंध लेखक अपने मन की प्रवृत्ति के अनुसार स्वच्छंद गति इधर उधर फूटी हुई सूत्र-शाखाओं पर विचरता चलता है। यही उसकी अर्थ-संबंधी व्यक्तिगत विशेषता है'। आगे चलकर प्रेम की विचित्रता के प्रसंग में आए हुए देशप्रेम का उल्लेख करते-करते लेखक रुक जाता है और अपने को देशप्रेमी कहलानेवालों की कड़ी आलोचना करने लगता है। तब तक के लिए विवेचना-क्रम में अवरोध पड़ जाता है—

'जन्मभूमि का प्रेम, स्वदेशप्रेम आदि वास्तव में अंतःकरण का कोई भाव है तो स्थान के लोभ के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस लोभ के लक्षणों से शून्य देशप्रेम कोरी बकवाद या फैशन के लिए गढ़ा हुआ शब्द है। यदि किसी को अपने देश से प्रेम है तो उसे अपने देश के मनुष्य, पशु, पक्षी, लता, गुल्म, पेड़, पत्ते, बन, पर्वत, नदी, निर्झर सबसे प्रेम होगा, सबको वह चाहभरी दृष्टि से देखेगा, सबकी सुध करके वह विदेश में आँसू

बहाएगा। जो यह भी नहीं जानते कि कोयल किस चिड़िया का नाम है, जो यह भी नहीं सुनते कि चातक कहाँ चिल्लाता है, जो आँख भर यह भी नहीं देखते कि आम प्रणय-सौरभ पूर्ण मंजरियों से कैसे लदे हुए हैं, जो यह भी नहीं झाँकते कि किसानों के झोपड़ों के भीतर क्या हो रहा है, वे यदि दस बने ठने मित्रों के बीच प्रत्येक भारतवासी की औसत आमदनी का परता बताकर देशप्रेम का दावा करें, तो उनसे पूछना चाहिए कि, भाइयो! बिना परिचय के यह प्रेम कैसा। जिनके सुख-दुःख के तुम कभी साथी न हुए उन्हें तुम सुखी देखा चाहते हो, यह समझते नहीं बनता। उनसे कोसों दूर बैठे बैठे, पड़े पड़े, या खड़े खड़े तुम विलायती बोली में अर्थशास्त्र की दुहाई दिया करो, पर प्रेम का नाम उसके साथ न घसीटो। प्रेम हिसाब किताब की बात नहीं है! हिसाब किताब करनेवाले भाड़े पर भी मिल सकते हैं पर प्रेम करनेवाले नहीं'।......'रसखान तो किसी की लकुटी अरु कामरिया पर तीनों पुरों का राजसिंहासन तक त्यागने को तैयार थे पर देशप्रेम की दुहाई देनेवालों में से कितने अपने किसी थके माँदे भाई के फटे-पुराने कपड़ों और धूल-भरे पैरों पर रीझकर या कम से कम न खीझकर, बिना मन मैला किए कमरे की फर्श भी मैली होने देंगे। मोटे आदमियो! तुम जरा दुबले हो जाते और अपने अंदेशे से ही सही तो न जाने कितनी ठठरियों पर मांस चढ़ जाता'।

इस प्रकार की व्यक्तिमूलक और अनुभूतिमयी व्यंजना देखकर भी और प्रासंगिक सूत्र पकड़कर विषयांतर की ओर खिंचाव पाकर भी जो शुक्लजी के निबंधों को विषय-प्रधान कहें उनकी अक्ल मारी गई है, यही स्वीकार करना पड़ेगा। किसी

भी तत्त्वमूलक विषय के प्रसार में इस प्रकार बीच के ब्योरों को लेकर अपनी रुचि-अरुचि के अनुसार रुककर उग्र रूप में आक्षेप और व्यंग्य कथन, सिद्धांत-निदर्शन की पद्धति नहीं है। 'लोभियो! तुम्हारा अक्रोध, इंद्रिय-निग्रह, तुम्हारा मानापमान-क्षमता, तुम्हारा तप अनुकरणीय है, तुम्हारी निष्ठुरता, तुम्हारी निर्लज्जता, तुम्हारा अविवेक, तुम्हारा अन्याय विगर्हणीय है। तुम धन्य हो! तुम्हें धिक्कार है !!'' एक किसी पक्के लोभी के सच्चे रूप का यही यथार्थ निर्णय है, पर इस प्रसंग में जो कुछ भी कहा गया है वह उसके व्यावहारिक क्रिया-कलाप का स्थूल निवेदन है न कि उसके विभिन्न व्यक्त कर्मों के भीतर बैठी मनः स्थिति की सूक्ष्म विवेचना। ऐसे स्थल अनेक हैं, और इसमें कृतिकार का व्यक्तित्व जितना अधिक स्फुटित हुआ है उतना बुद्धिपरक विश्लेषण नहीं।

उदाहरण एवं दृष्टांत भी शास्त्रीय गांभीर्य के साथ नहीं उपस्थित किए गए, उनमें या तो विचार-क्रम को अधिक सुबोध और व्यापक बनाने की आकांक्षा प्रकट होती है अथवा अवसर एवं संधि पाकर लेखक की अपनी परिहास प्रियता झलकती है, ऐसे उदाहरणों के कारण विवेचना भी व्यक्ति-प्रधान बनी दिखाई पड़ती है। इस पद्धति से उसकी विषयगत रूक्षता भी बच गई है और अभिव्यंजना-शैली भी सरल हो सकी है—'भूखे रहने पर सबको पेड़ा अच्छा लगता है पर चौबेजी पेट भर भोजन के ऊपर भी पेड़े पर हाथ फेरते हैं,' 'रुपये के रूप, रस, गंध आदि में कोई आकर्षण नहीं होता पर जिस वेग से मनुष्य उस पर टूटते हैं उस वेग से भौंरे कमल पर और कौए मांस पर भी न टूटते होंगे,' 'सीताहरण होने पर राम का जो वियोग सामने आता है वह भी चारपाई पर करवटें बदलवानेवाला नहीं है, समुद्र पार कराकर

पृथ्वी का भार उतारनेवाला है' इस प्रकार के स्थलों के अतिरिक्त जहाँ लेखक आप-बीती निवेदन करने लगता है वहाँ तो खुलकर उसका व्यक्तित्व सामने आ जाता है, सभी निबंधों में शुक्लजी अपने और पाठकों के बीच ऐसी आत्मीयता स्थापित करते मिलते हैं, अपनी निजी अनुभूति प्रकट करने से कथन को बल मिल जाता है, यह प्रणाली अधिक नहीं प्रयुक्त हुई है फिर भी उसकी रूपरेखा एक ही प्रमाण से स्पष्ट हो जायगी :—

'पर आजकल इस प्रकार का परिचय बाबुओं की लज्जा का एक विषय बन रहा है, वे देश के स्वरूप से अनजान रहने या बनने में अपनी बड़ी शान समझते हैं, मैं अपने एक लखनवी दोस्त के साथ साँची का स्तूप देखने गया। यह स्तूप एक बहुत छोटी सी पहाड़ी के ऊपर है, नीचे एक छोटा सा जंगल है जिसमें महुए के पेड़ भी बहुत से हैं, संयोग से उन दिनों पुरातत्व-विभाग का कैंप पड़ा हुआ था, रात को जाने से हम लोग उस दिन स्तूप नहीं देख सके, सबेरे देखने का विचार करके नीचे उतर रहे थे, वसंत का समय था, महुए चारों तरफ टपक रहे थे, मेरे मुँह से निकला महुओं की कैसी मीठी महक आ रही है, इसपर लखनवी महाशय ने मुझे रोककर कहा यहाँ महुए सहुए का नाम न लीजिए, लोग देहाती समझेंगे, मैं चुप हो गया, समझ गया कि महुए का नाम जानने से बाबूपन में बड़ा भारी बट्टा लगता है।'

उदाहरण उपस्थित करने का एक दूसरा रूप भी है, उसमें भी शुक्लजी की व्यक्तिगत अभिरुचि ही अधिक स्पष्ट होती है, तथ्य के स्पष्टीकरण के लिए उन्होंने आवश्यकतानुसार बड़े विस्तार के साथ प्रचलित काव्य-ग्रंथ में प्राप्त प्रसंगों की ओर ध्यान आकर्षित किया है। लोभ के तारतम्य में प्रेम के विविध स्वरूपों और प्रभावों

का विचार करने समय कहीं उर्दू की शायरी या प्रेम-काव्यों का, कहीं सूर की गोपियों अथवा बंकिम बाबू की आयशा और जगत्‌सिंह का, कहीं साहित्य के अपने पुराने आचार्यों या योरोपीय साहित्य के युद्ध और प्रेमवाले युग का, कहीं भारतीय प्रबंध-काव्यों या तुलसी और ठाकुर की कविताओं का विवरण और साक्षी देकर अपनी इच्छा के अनुरूप विषय का विचार किया है, ऐसे स्थलों पर विचार तो अवश्य ही बहुत स्पष्ट हो गए हैं पर विवेचना की पद्धति विषयोन्मुख न होकर व्यक्ति-प्रधान हो गई है।

इतना होते हुए भी शुक्लजी के निबंध हैं विचार-प्रधान—शास्त्रीय अर्थ में नहीं व्यवहार की दृष्टि से, लौकिक क्षेत्र में प्रमुख मनोविकारों का क्या रूप प्राप्त होता है और विविध परिस्थितियों के घात-प्रतिघात में पड़कर वे किस प्रकार रूपांतरित हो उठते हैं अथवा मनुष्य को भिन्न-भिन्न क्रिया-व्यापारों की ओर प्रेरित करने में सहायक होते हैं इसी का विचार इनमें मिलता है। आवश्यकतानुसार इन मनोवेगों की उत्पत्ति, विकास और परिणाम का विचार करके उनके भेद-प्रभेद भी निरूपित हुए हैं, इस आधार पर वर्गीकरण करते समय उन्हें विचार प्रधान-ही कहा जायगा इसमें दो मत हो ही नहीं सकते यही विवेचना-क्रम और परिणाम उन निबंधों का भी समझना चाहिए जिनका संबंध सैद्धांतिक अथवा व्यावहारिक समालोचना से है।

जन्म १८४६] जयशंकर 'प्रसाद' [निधन १८८४

जयशंकर 'प्रसाद'

१

महाकवि प्रसाद के संस्मरण

हमारे आपके जीवन में कुछ क्षण ऐसे भी आते हैं जब कोई विशेष महत्व की बात कुछ ऐसे सामान्य ढंग से घटित हो जाती है कि आश्चर्य होता है। इसी प्रकार की एक सीधी घटना मेरे साथ भी घटित हो चुकी है। बात बहुत पुरानी न होने पर भी करीब चालीस वर्षों की तो हो ही गई है। पर हृदय ऐसी शीतल कोठरी है कि जो भी चीज उसमें घर कर लेती है फिर जल्दी विकृत नहीं होती और विशेष कर जब वह चीज प्रिय हो और घनिष्ट हो। एक प्रातःकाल की बात है जब मैं प्रायः आठ-नौ वर्षों का था अपने किसी गुरुजन के साथ घर से निकला। मेरे मकान के पीछे से एक गली पूरब की ओर घूमती-फिरती जाती है। उसी से हम लोग जा रहे थे। मकान से करीब चार सौ कदम आगे एक और गली में पहुँचा। आखों में सहज कुतूहल और जिज्ञासा छिपाए हुए उत्फुल्ल भावनाओं में लिपटा था। इस आनंद और उत्साह का कारण थी वह कथा जो मेरे साथी गुरुजन मुझे सुनाते जा रहे थे। उस कथा के नायक सुंघनी साहु इसी गली में रहते थे। वे बड़े पुण्यात्मा दानी उदार और अतिशय प्रसन्न चित्त व्यक्ति थे। काशी में उनकी उदार वृत्तियों की बड़ी धूम थी। दीन-दुखियों की मंडली में उनकी आराधना होती थी

और शिष्ट और नागरिक जन संप्रदाय में उनका बड़ा आदर था। उन्हीं की साधु चरितावली कथा रूप में सुनता जा रहा था। मेरी बालमति समझ नहीं पा रही थी कि सुंघनी और साहु इन दो शब्दों में कहाँ का पुण्य और प्रताप भरा था। इसी प्रकार की अन्य अनेक जिज्ञासाओं में मन उलझा हुआ था और उनके निराकरण का कोई साधन भी नहीं रह गया था, क्योंकि वे साहु जी अब इस मानव लोक में नहीं रह गए थे। कथा भी बिना किसी कलात्मक अंत के सहसा यहीं रुक गई, क्योंकि सामने एक चबूतरा आ गया था। इसी पर एक दृश्य दिखाई पड़ रहा था। मेरे गुरुजन उसी को देख कर मुसकरा रहे थे। और इसीलिए इधर की वह धारा समाप्त हो गई थी। दृश्य के आकर्षण ने कथा पर विजय पा ली थी। मैं भी उसी ओर एकचित्त होकर देखने लगा था।

बसंत ऋतु की बहार थी। प्रातः नौ-साढ़े-नौ बजे का समय था। दिखाई पड़ा कि सामने लंबे मिट्टी के चबूतरे पर कुछ अजीब-सी चहल-पहल है। पांच-सात आदमी मिरजई और बंडी पहने बड़ी मस्ती से धीरे-धीरे इधर-उधर हिल-डुल कर कुछ काम-काज कर रहे हैं। इन लोगों से मेरी नजर अभी उलझ और टकरा ही रही थी कि एक ओर दूर से आवाज आई बुलाने की और मेरे साथी गुरुजन उसी ओर बढ़े। मैं भी अनुसारी परिणाम की तरह उन्हीं के पीछे-पीछे चला गया और जाकर देखता हूँ कि एक कसी हुई चारपाई पर तेईस-चौबीस बरस का एक भद्र युवक मैली सी मसनद का सहारा लिए मालिश करा रहा है। उस सांचे में ढले हुए गौरवर्ण के युवक की शारीरिक पूर्णता देखकर मेरी बालमति अत्यधिक प्रभावित हो उठी थी। जब तक उधर

उन लोगों में बातचीत चल रही थी मैं उस व्यक्ति के स्वास्थ्य का ही दर्शन करने में उलझा रहा और अपनी बुद्धि पर हिसाब किताब कर रहा था कि ऐसा पुष्ट शरीर कैसे बन गया। भरे हुए गोले मुख पर दीर्घ ललाट, हलकी भौंहें, लंबे कान और सीधी नासिका से उस युवक की मुखाकृति आकर्षक मालूम पड़ती थी। मांसल और लंबी भुजाएँ, छोटी पर मदिर चितवनवाली आखें और मस्तक पर छोटे त्रिपुंड की तरह तीन रेखाएँ विशेष स्पष्ट थीं। पीन वक्ष और उठे हुए कंधों पर की चौड़ाई लिए हुए नाटी गरदन शारीरिक दृढ़ता की बोधक थी। शरीर के आकर्षण के साथ ही मुख की दीप्ति को बढ़ानेवाली दबी मुस्कान सहज आंतरिक प्रसन्नता का द्योतन कर रही थी। बनारसी भाषा में उनके बातचीत करने का घरेलू ढंग मंडली में आत्मीयतापूर्ण वातावरण पैदा किए हुए था। वहाँ सभी प्रसन्न दिखाई पड़ रहे थे।

मालिश करनेवाला व्यक्ति अपना काम करता रहा और करके चला गया। दूसरा व्यक्ति उसके स्थान पर आया और पैर के तलवों में तेल लगाने लगा। मुझे ऐसा मालूम हुआ कि गुलाब के इत्र से यह मालिश हो रही थी क्योंकि थोड़ी ही देर में चारों ओर इत्र की सुगंध फैल गई थी। मैं कुतूहल और संभ्रम से सब व्यापार देख रहा था और कान लगाए वहाँ होने वाली बातों को सुन भी रहा था। बातचीत उसी गुलाब के इत्र के विषय में चल रही थी। एक नौकर को आज्ञा मिली कटोरा और पर लाने की और वह चला गया। पाँच मिनट के उपरांत वही नौकर एक ढक्कनदार कटोरा और दो-तीन छोटे-छोटे पर लेकर आया। उस भद्र युवक ने ढक्कन हटाया और कटोरे को मुसकराते हुए मेरे गुरुजन के सामने रख दिया। हम लोगों ने गौर से उसमें

देखा कि जल के ऊपर बहुत से तेल के छोटे-छोटे चकत्ते तैर रहे थे और गुलाब की मीठी-मीठी महक उड़ रही थी। एक पर लेकर तैरते हुए तेल के चकत्तों को उठाने की चेष्टा करते हुए उस महाशय ने निवेदन किया—'पंडित जी अब की क सब कैल-धैल नष्ट हो गैल। एही से पैर के पियाय देत हई।' और वे कुछ खुल कर हँसे भी। इस इत्र की चर्चा ने वहाँ का और सब काम-काज बंद कर दिया था। वहाँ से मंडली उठी और सामने की बगीची की ओर बढ़ी। वहाँ पहुँचे तो देखा कुछ दूसरा ही दृश्य दिखाई पड़ा।

सूक्ष्मातिसूक्ष्म ब्यौरे के साथ इस समय सब कुछ कह सकना कठिन मालूम पड़ता है। फिर भी कुछ ऐसी चीजें तो अवश्य और साफ याद हैं जिनकी रूपरेखा अपने ढंग से निराली थी। एक ऊँचे से चबूतरे पर एक ऊँचा सा शिवजी का मंदिर था। उसी से लगा हुआ एक ओर खपरैल का थोड़ा सा ओसारा था और उसी के सामने कुछ फूलों के पेड़ भी लगे थे। जिनमें अड़ौल और गुल चाँदनी के वृक्ष तो अवश्य थे। सामने ही ऊँचाई पर मंदिर के बाहरी भाग में जो नंदीजी बैठे थे उन पर चढ़े हुए फूलों की ताजगी से सूचना मिल रही थी कि पूजा अभी हाल में ही समाप्त हुई थी। मंदिर का दरवाजा खुला हुआ था और उसमें से एक मोटी धूमशिखा निकल कर बाहर की ओर आ रही थी। मंदिर के नीचे बगीचे तक उसकी सुगंध फैल रही थी। ओसारे में एक आदमी तेजी से सिल बट्टा चला रहा था। सिल के सिरे पर पिसे हुए बादाम का एक थोक तो रखा ही था और दूसरा पीसा जा रहा था। जब तक इधर युवक साहुजी की ओर आनेवाली शिवरात्रि का प्रोग्राम सोचा जा रहा था, दूसरी ओर से तैयार होकर दो गिलास बादाम मिला दूध सामने आया। दो गिलासों

में पेय को देखकर मैं तो आशा के और मेरे गुरुजन कुतूहल के चक्कर में पड़े।

मेरी आशा उस समय तक बंधी रही जब तक युवक ने दूसरा भरा हुआ गिलास भी हाथ में नहीं उठा लिया। उसके बाद की स्थिति का अनुमान तो आप सभी को अब तक सरलता से लग गया होगा इसलिए उसका उल्लेख आवश्यक नहीं मालूम पड़ता। हाँ गुरुजन की जिज्ञासा ने स्वरूप धारण किया उनकी ओर से प्रश्न हुआ था 'का भया चार क दुइ और अखाड़ा क मालिश भर रह गैल हउऐ।' इस प्रश्न का मर्म मैं तब तक नहीं समझ सका था जब तक उस भद्र ने हँसकर उत्तर नहीं दिया; 'अखाड़ा क मालिश बन्तै पंडित जी। चार क दुइऐ रह गैल। अब नून तेल लकड़ी क प्रश्न सामने हौ और का जवाब देईं।' उत्तर में परिहास से अनुप्राणित शालीनता थी। ऐसा मालूम पड़ता था मुझे उस समय। पर आज विचार करता हूँ कि उसमें कुछ खिन्नता का भी योग था। आगे के भाष्य और परिष्कार पक्ष से मैंने कुछ अर्थ बैठाने की चेष्टा की। बात यह है कि उस समय से पूर्व युवक महोदय नित्य अखाड़े में कुश्ती लड़ते थे और तदुपरांत ढाई सेर भैंस के पकाये दूध में तीन पाव पिसा बादाम मिलाकर नित्य पीते थे। पर अब परिस्थिति कुछ बदल गयी थी। अग्रज के निधन हो जाने के कारण भद्र युवक की दैनिक कार्यावली कुछ बदल चली थी। कुश्ती लड़ना उखड़ गया था। गिजा भी टूट चली थी। थोड़े में बात यों थी कि दुलार भरे जीवन को एक ठेंस लगी थी और तबीयत कुछ सहम गयी थी।

इतने ही में एक मुसलमान सज्जन भीतर आए। चौड़े-चौड़े चेक की तहमत और कसीदा कढ़े हुए कुरते के ऊपर बनारसी

दुलिया टोपी लगाए हुए थे। कान पहलवानों की तरह टूटे और गुरुचिआए हुए थे। टाँगें कुछ चौड़ी करके चल रहे थे। मैंने तुरंत ही जान लिया था कि वे सज्जन कुश्ती में माहिर थे। उनके देखते ही उस भद्र युवक ने सांस खींच कर स्वागत किया। 'आवऽ हो उस्तादजी ! बहुत दिन के बाद आयल हौवऽ ! का हाल बाटै एकर आखाड़ा कऽ।' इसके बाद याद नहीं है कि उस्तादजी ने क्या विवरण पेश किया और बात कब तक चली। बीच में एक रेकाबी में आठ-दस बीड़ा पान-सुरती और कस्तूरी लेकर एक नौकर आया और सामने रख कर चला गया। फिर तो बात कस्तूरी पर चल पड़ी थी और उस विषय का ज्ञान कम होने के कारण न मैं विशेष कुछ समझ सका था और न इस समय कुछ स्मरण ही आ रहा है।

अंत में कहना नहीं होगा कि इस छोटी सी कथा के नायक वे भद्र युवक हिंदी के महाकवि जयशंकर 'प्रसाद' थे और उनके दर्शन का वह मेरा प्रथम अवसर था। उन दिनों प्रसादजी के जीवन का आभोग पक्ष प्रायः समाप्त हो गया था और उस समय वे जीवन में आनेवाले कठोर संघर्षों के लिए तैयारी में लग चुके थे। वह उनके जीवन का संधिकाल था। भले ही शिशुता की झलक न छुटी हो पर प्रौढ़ता विधायक वस्तुस्थितियाँ सामना करने को सामने खड़ी हो चुकी थीं।

२

नाट्यकार 'प्रसाद'

भारतेंदु-युग में हिंदी-नाटकों की रचना का आरंभ भी हुआ और प्रसार भी। बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' जी, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, अम्बिकादत्त व्यास, श्री निवासदास प्रभृति अनेक कृतिकारों के निरंतर प्रयास के परिणामस्वरूप एक से एक सुंदर रचनाएँ उपस्थित हुईं। प्रयोग का विस्तृत क्षेत्र पाकर नाटक-रचना का स्वरूप भी कुछ परिष्कृत होने लगा और विषय-विन्यास में भी उतार-चढ़ाव दिखाई पड़ने लगा। हिंदी के तत्कालीन नाटकों का गठन भविष्य की भव्यता का आभास देने लगा था और बीसवीं शताब्दी के आरंभिक वर्षों में जो थोड़े से नाटक निकले उनमें नाटकीय तत्वों का संयोजन अधिक कौशलपूर्ण पद्धति से किया गया। इस प्रकार शताब्दी के आरंभिक दो दशकों में लिखे गए विभिन्न नाटकों ने आगामी पीढ़ी के प्रौढ़ रचनाकारों के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया था और विविध प्रकार की भूमियों तक पहुँचने का संकेत भी उपस्थित कर दिया था।

हिंदी की नाट्य-रचना का द्वितीय उत्थान ई० सन् १९२० के उपरांत ही मानना चाहिए। विषय संग्रह के विचार से भी और रचना-विधान की दृष्टि से भी। इस युग में लिखनेवालों का स्वरूप-संगठन भले ही पहले आरंभ हो चुका था पर उनका परिमार्जित

रूप बाद में ही देखने को मिला। इस समय के कृतिकारों में स्वर्गीय जयशंकर प्रसाद के कृतित्व एवं व्यक्तित्व अद्वितीय और उन्मेषवर्द्धक थे। यों तो उस समय 'सुदर्शन', 'कौशिक', 'उग्र', बद्रीनाथ भट्ट, लक्ष्मीनारायण मिश्र, जी० पी० श्रीवास्तव आदि अन्य अनेक मौलिक लेखकों ने अपनी कृतियों से साहित्य का भंडार भरने में योग दिया था पर जो महत्त्व 'प्रसाद' जी को प्राप्त हुआ वह सर्वथा स्पृहणीय था। भारतेंदुजी के उपरांत नाट्यकारों में इतनी प्रौढ़ शक्ति, भव्य कल्पना, दिव्य प्रतिभा और रचनापटुता अन्य किसी में नहीं दिखाई पड़ी। 'प्रसाद' जी अपने क्षेत्र में नेता बनकर आदर्श रूप में प्रतिष्ठित हुए।

वाणी की दिव्य विभूति के रूप में जो संपूर्ण साहित्यिक सर्जना होती है उसका मूलमंत्र है 'प्रतिभा'। इस दैवी शक्ति का प्रभाव उन विभिन्न उपादानों पर पड़ता है जिनके संयोजन से काव्य की निर्मिति सिद्ध होती है। काव्य का मुख्य उपादान है विषय। विषय के निर्वाचन और निर्वाह में यदि प्रतिभा का पूरा पूरा योग मिल जाय तो भूत, भविष्य तथा वर्तमान के सभी विषय हस्तामलकवत् अतीव सुस्पष्ट और सजीव हो उठते हैं। प्रतिभा भूत के गहनवन के भीतर घुसकर उसके अंतःकरण में विराजमान सभी सुंदरताओं की झाँकी पा लेती है। एक ओर वह कवि के मानस को परितृप्त करके उसे प्रेरणा प्रदान करती है दूसरी ओर सहृदय श्रोता अथवा पाठक को अनुरंजित करती है। जीवन और जगत् के अंतराल में से अनुरंजनकारी सुंदरताओं को बीन-बटोर कर प्रतिभा इस रूप में सजा देती है कि उस सृष्टि से मानव को लोकोत्तर आनंद प्राप्त होता है।

इस प्रतिभा का अभूतपूर्व चमत्कार 'प्रसाद' जी में दिखाई

पड़ा। उनकी साहित्यिक पूर्णता का मुख्य कारण वही है। युगधर्म के अनुरूप विषय का निर्वाचन करने में उनकी प्रतिभा ने बड़ा काम किया। जिस समय देश की आकांक्षा राजनीतिक स्वातंत्र्य की ओर थी, और सारे राष्ट्र के भीतर आत्मगौरव की भावना जग रही थी उस समय 'प्रसाद' जी ने उद्दीपन विभाव के रूप में भारतीय इतिहास के उन प्रकांड दृश्यों, और व्यापारों की ओर देशवासियों का ध्यान आकर्षित किया जिनके अनुकथन मात्र से उत्साह ग्रहण किया जा सकता था। उनके नाटक भारतीय गौरव, शक्ति, उत्साह और पराक्रम के प्रतीक हैं। उनमें ऐसे उदात्त पात्रों के इतिवृत्त उपस्थित किए गए हैं जो भारतीय संस्कृति और आदर्शों के सच्चे प्रतिनिधि हैं, जिनसे किसी भी युग और देश की जनता प्रेरणा ग्रहण कर सकती है।

जिस समय 'प्रसाद' जी की नाटक रचना की शक्ति अपने पूरे प्रसार में थी उस समय (ई० सन् १९२०–३१) भारतीय राजनीति के क्षेत्र में त्यागमय पराक्रम के अद्भुत प्रयोग सामने रखे जा रहे थे। जन-जन और कण-कण में आत्मगौरव की अनुभूति और उत्साहपूर्ण क्रियाशीलता की वृद्धि आवश्यक थी। जागरूक भविष्यद्रष्टा के रूप 'प्रसाद' ने अपने युग की आकांक्षा को पहिचाना, उसके पोषण-संवर्धन में उनकी प्रतिभा ने योग दिया। युग के अनुरूप उसने विषय की व्यवस्था की। अंधकाराच्छन्न प्राचीन ऐतिहासिक वृत्तों के निविड़ अंतराल से उलझे सूत्रों को लेकर उस अपूर्व निर्माण क्षमा प्रतिभा ने एक से एक आकर्षक और प्रभावशाली कार्यावली सामने रखी। उस प्रतिभा की चिरसंगिनी स्मृतिस्वरूपा कल्पना ने वृत्तों के टूटे-फूटे अंशों को जोड़ने में सहायता की। इस प्रकार दूरस्थ अतीत, अमर कवि

का माध्यम पाकर 'जनमेजय', 'चंद्रगुप्त', स्कंदगुप्त' इत्यादि के रूप में साकार और सजीव हो उठा। कवि हृदय की संगति युग धर्म से पूरी-पूरी बैठ गई।

प्रसादजी के नाटकों का विशेष महत्व इसलिए भी है कि उन्होंने संस्कृत की प्राचीन नाट्यकृतियों की परंपरा में अपने स्वरूप को ढालने का अपूर्व प्रयास किया। उनके समय तक हिंदी में जो मौलिक नाटक लिखे गए थे उनमें इतिवृत्त और यथातथ्यता का व्यावहारिक रूप इतना प्रवेश पा गया था कि काव्य तत्व दुर्बल और गद्य तत्व प्रबल पड़ चला था। इसलिए उसमें संवेदनशीलता की योग्यता कम होती जा रही थी और स्थूलता उभड़ी आ रही थी। 'प्रसाद' ने अपने नाटकों में, प्रगीतात्मक काव्य प्रणाली को दीप्त करके हिंदी नाटकों को पुनः भारतीय नाट्यरचना की प्राचीन धारा में मिला दिया और पूर्वापर प्राचीन नवीन में अविच्छिन्नता स्थापित कर दी। उनके वस्तुविन्यास में कर्म-व्यापारों के शोधन में और पत्रों की हृदयगत भावनाओं में जो कविता भरी मिलती है वह संस्कृत की प्राचीन नाट्यकृतियों के अधिक समीप मालूम पड़ती है। इस प्रकार 'प्रसाद' जी की प्रतिभा ने कालगत दूरी को हटाकर सुदूर पड़ी शृंखला से वर्तमान को नियोजित किया।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि 'प्रसाद' में महत्व की वस्तु है—नवनवोन्मेषशालिनी और अपूर्व निर्माण क्षमा प्रतिभा। उसी का दिव्य प्रसार नाटकों में रहने से वे इतने सजीव और संवेदनशील हो सके। उसी के परिणामस्वरूप कवि विषय के निर्वाचन और निर्वाह में इतना सफल हो सका है तथा उसी के बल पर उसे साहित्यिक अमरता प्राप्त हो सकी है।

३

प्रसाद के नाटकों का सौष्ठव

'प्रसाद' में जब आधुनिक नाटककार का रूप अपने को संवार-सजा रहा था, जब उनमें नाट्य-रचना की स्फूर्ति उत्पन्न हो रही थी और जब भावी श्रेष्ठ नाटककार का जन्म हो रहा था उस समय की नाटकीय रचनाओं को प्रभावित करनेवाली समस्त वस्तु स्थिति का आकलन आवश्यक है—यदि प्रसाद के नाट्य-रचना-विधान का सौष्ठव समझना अभीष्ट हो। बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में भारतेंदु कालीन नाटकों की चर्चा फैली हुई थी और उस युग के कुछ प्रतिनिधि इस समय भी रचना में प्रवृत्त थे। राधाकृष्णदास, किशोरीलाल गोस्वामी, अम्बिकादत्त व्यास, बालकृष्ण भट्ट, अयोध्यासिंह उपाध्याय आदि ऐसे विशिष्ट लेखकों के नाटकों का प्रणयन चल रहा था। इनमें मूलतः नूतन उद्भावना का अभाव-सा ही मानना चाहिए—विषय ग्रहण और रचना-विधान के विचार से जो पद्धति भारतेंदु युग में सुगठित और गृहीत हो चुकी थी उसी का विलास और विहार इस समय तक चला आ रहा था। इसकी समाप्ति वस्तुतः उस समय से माननी चाहिए जब से जयशंकर प्रसाद की नाट्य-कृतियों की ओर लोग आकृष्ट होने लगे—यों तो राधाकृष्णदास का महाराणा प्रताप नाटक नूतन युग का संकेत दे रहा था परंतु यह केवल सूचना मात्र थी।

प्रसाद के आरंभिक दिनों की साहित्यिक वस्तुस्थिति की यदि परीक्षा की जाय तो कुछ ऐसी विशेषताएँ दिखाई पड़ेंगीं जिनका स्पष्ट प्रभाव प्रसाद के नाटकों पर लक्षित होता है। संक्षेप में उनका कथन यदि किया जाय तो तीन प्रमुख बातें मिलेंगी। (१) भारतेंदु काल का प्रभाव—इसके भीतर विषय-चयन की संकीर्णता थी, अर्थात् कुछ चुने हुए विषयों पर ही उस समय नाटक लिखे गए थे। उनके रचना-विधान में प्राचीन मान्यताओं के साथ नए प्रयोगों का भी पर्याप्त स्वागत था। इस स्वागत की प्रेरणा के स्रोत थे नवागत बंगला के नाटक, यदाकदा अनूदित होनेवाले विलायती नाटक और रंगमंच पर दिखाई जाने वाली कुछ कृतियाँ—जिनकी उस समय तक अधिकता तो नहीं थी पर प्रयोग अवश्य आरंभ हो चुका था। (२) संस्कृत के प्राचीन नाटककारों और शास्त्र निर्माताओं का प्रभाव—निरंतर अध्ययनशील प्रसाद में जिस सांस्कृतिक चेतना का संगठन हुआ या और जिस प्रकार की काव्य-सर्जना में उनकी आंतरिक अनुरक्ति गुंफित हुई थी—वह मूलतः संस्कृत की परंपरा थी। आरंभ की यथार्थ स्थिति यह थी कि एक ओर प्रसाद नाट्यशास्त्र संबंधी संस्कृत के ग्रंथों का अध्ययन करते चलते थे और उसके व्यवहार पक्ष का पूर्ण आभोग करनेवाले प्राचीन नाटककारों की विविध प्रकार की कृतियों का निरंतर अनुशीलन करते रहते थे, दूसरी ओर अपने समय तक लिखी गई हिन्दी की नाट्य रचनाओं की ओर भी उनकी तत्पर जागरूकता आकर्षित थी। साथ ही समय-समय पर रंगमंच पर अवतरित होनेवाले नाटकों को भी वे देख लेते थे। इस प्रकार अपने भीतर निर्मित होनेवाले नाटककार के स्वरूप को प्रसादजी निरंतर अद्यतन बनाने में सचेष्ट थे और यही कारण है

कि उनमें युग निर्माता की सम्पूर्ण भव्यता पूर्णतया स्फुटित मिलती है। (३) अपने युग की सामूहिक चेतना का प्रभाव—भारतेंदु के जीवन-काल से पूर्व ही भारतवर्ष में अभारतीय विदेशी शासन-सत्ता के विरुद्ध असंतोष और आशंका फैल चली थी और समय समय पर प्रत्यक्ष एवं प्रच्छन्न दोनों ढंग के विरोध सामने आने लगे थे। सन् १८५७ का प्रथम स्वातंत्र्य युद्ध इसका प्रत्यक्ष रूप था। प्रच्छन्न-पद्धति तो उस समय के सभी लेखकों की रचनाओं में समान रूप से प्राप्त होती है। अंगरेजी राज की स्वार्थलिप्सा और भारत विरोधी नीति की निरंतर भर्त्सना साहित्य के माध्यम से होती रही। आगे चलकर सन् १८७५ में तो फिर कांग्रेस का जन्म हो ही गया था और सन् १९०५ तक आते-आते बंगभंग-आंदोलन के रूप में उक्त विरोध की सक्रिय अभिव्यक्ति सामने आ चुकी थी। युग द्रष्टा महाकवि प्रसाद में इस उद्बुद्ध राष्ट्रीय-चेतना का पूरा प्रभाव पड़ा था। भारतीय-संस्कृति के प्रति अगाध श्रद्धा और नवोत्थित राष्ट्र-भावना के प्रति अप्रतिहत विश्वास ने प्रसाद के साहित्य स्रष्टा-रूप का परिष्कार पूर्ण कर दिया था। इसका प्रभाव उनकी आरंभिक कृतियों में सर्वत्र दिखाई पड़ता है।

प्रथम प्रभाव का परिणाम प्रसाद की प्रारंभिक कृतियों पर यह पड़ा कि भारतेंदुकालीन विषय-चयन की परिमिति के बाहर निकल कर उन्होंने सुदूर अतीत की ओर देखा। प्राचीन भारत की झलक को नूतन परिधान के साथ नूतन फलक पर उतारा। भारतीय जीवन की प्राचीन भव्यता, सांस्कृतिक गठन की गरिमा, और आध्यात्मिक जाग्रति की अनन्यता उनकी कविता में और नाटक आदि अन्य रचनाओं में सर्वत्र मिलती है। उनके नाटकों में तो यह मूल प्रेरणा का कारण बन गई है। भारतेंदु कालीन

नाट्य-रचना-विधान के अनिश्चित क्रम का भी परिष्कार प्रसाद ने किया है। संविधानक-सौष्ठव के विचार से भी तो प्रसाद प्रथम श्रेष्ट कलाकार थे जिन्होंने उसके कलात्मक जटिल और शास्त्र-सम्मत स्वरूप को सुनिर्दिष्ट ढंग से अलंकृत किया। इस प्रकार काव्य-सर्जना के क्षेत्र में सुधार-परिष्कार संबंधी अनेक सफल प्रयास प्रसाद ने प्रस्तुत किए। साथ ही अपने युग की देशी-विदेशी विभिन्न साहित्यिक गतिविधि और भिन्न-भिन्न रचनाओं से प्राप्त प्रभावों को भी उन्होंने अपने में एकत्र कर लिया था। उनमें कुछ तो स्वस्थ प्रभाव थे; जैसे—क्रियावेग, जटिल वस्तु विन्यास, व्यक्ति वैलक्षण्य से आपूर्ण पात्रों की सृष्टि, संवाद-सौंदर्य आदि। इसी तरह कुछ अस्वस्थ प्रभाव भी उनमें प्रवेश कर गए; जैसे—आत्महत्याओं की बाढ़, स्वागत-भाषण की प्रवृत्ति आदि।

द्वितीय प्रभाव जिसने अत्यधिक रंगीनी उत्पन्न की थी प्रसाद की कृतियों में वह था संस्कृत-साहित्य का। संस्कृत के श्रेष्ठ काव्यों में सामान्यतया प्राप्त पदावली, उक्ति भंगिमा और अलंकारिकता से 'प्रसाद' बहुत प्रभावित थे। निरंतर उन्हीं का अनुशीलन करते रहने से उनकी कथन प्रणाली और उक्तियों की छाया प्रसाद पर पड़ी है इसका विवरण और प्रमाण उनकी कविताओं में बराबर मिलता है। उनके नाटकों में व्याप्त स्वच्छंद काव्य-तत्त्व की अधिकता का भी मुख्यतः यही कारण था। संस्कृत के नाटकों की तरह 'प्रसाद' में क्लिष्ट अलंकृत पद विन्यास का बाहुल्य कुछ असंस्कृत लोगों को बहुत खटकता है। इन लोगों को 'प्रसाद' का न तो अमृत के सरोवर में स्वर्ण कमल खिलाना पसंद है न अतींद्रिय जगत् की नक्षत्र मालिनी निशा का विहार। पर वस्तुतः परम सत्य यही है कि संस्कृत नाटकों की काव्य

पद्धति ही प्रसाद की आधिकारिक भित्ति है। उसी में प्रसाद का प्रसादत्व निवास करता है और वही उनके नाटकों में प्राण का संचार करती है। यदि उसे हटा दिया जाय तो इन कृतियों का जैसे सारसर्वस्व ही अपहृत हो जायगा और वे आभूषण-परिधान विहीन सुंदरी की तरह अरुचिकर प्रतीत होंगी। काव्यतत्व के अतिरिक्त नाट्यशास्त्र विषयक बोध का भी पर्याप्त प्रभाव प्रसाद पर था। साधारण रूप में तो इसकी अभिव्यक्ति उनके विविध-नाट्य-तत्वों के संयोजन में सर्वत्र ही दिखाई पड़ती है पर संविधानक सौष्ठव में उसका सूक्ष्म विहार विशेष रूप में दिखाई पड़ता है। उनके वस्तु-प्रसार के भीतर विविध कार्यावस्थाओं, अर्थ प्रकृतियों, संधियों, काव्योद्योवकों की सिद्धि इस बात का बलिष्ट प्रमाण है। ये अनजान में आकस्मिक रूप से आ गई हों ऐसी बात नहीं स्वीकार की जा सकती। निश्चय ही इनकी स्थापना बड़ी मार्मिकता से की गई है और इनका प्रयोग विधिवत् एवं सोद्देश्य है।

तीसरा प्रभाव युग-धर्म संबंधी है, जिसका स्वरूप प्रसाद की समस्त कृतियों में समान रूप से दिखाई पड़ता है। चाहे नाटकों में देखें चाहे कविता के क्षेत्र में प्रसाद सर्वत्र अपने युग की आकांक्षाओं और प्रेय-श्रेय दोनों की अभिव्यक्ति करते गए हैं। इससे युग-धर्म के प्रति प्रसाद की सचाई और श्रद्धा का पूरा पता लग जाता है। इस स्वीकृति के द्वारा ही कवि और साहित्यकार अपने युग का प्रतिनिधित्व कर सकने में पूर्णतया सक्षम बनता है। साथ ही अपने युगानुरूप भावनाओं एवं आदर्शों को अतीत के अंतराल में बिखरा दिखाकर वह एक ओर तो सिद्ध करता है

कि हमारा पूर्वा-पर सुस्थिर और विकासोन्मुख है और दूसरी ओर वह यह भी दिखाता चलता है कि मूल मानव-वृत्तियाँ आधारिक रूप में विभिन्न युगों में एक सी गतिमयी होती हैं और काल-भेद से ऊपर हैं। इन चिरंतन वृत्तियों के यथार्थ स्वरूप को पहचानना और काव्य की व्यवहार-भूमि में उन्हें उचित रूप में सुसज्जित करके सहृदय के अंतःकरण में प्रेरणा का संचार करना स्रष्टा या कवि-कर्म का प्रधान लक्ष्य है। इस विचार से प्रसाद की कृतियाँ एक से एक सुंदर और महत्वपूर्ण हैं। अतीत की पृष्ठभूमि पर सामयिक समस्याओं का चित्रण उनमें बड़ी सफलता से हुआ है।

यहाँ इस विषय के दो उदाहरण यथेष्ट होंगे। कामायनी के संघर्ष सर्ग की पूरी स्थापना के भीतर से बीसवीं शताब्दी का वातावरण झाँकता मालूम पड़ता है। शासक और शासित का, व्यक्ति और समष्टि का, जो संघर्ष आज हमारे सामने आया है वह अपने में सनातन और सत्य है। जहाँ एक से दो और दो से तीन हुए कि संघर्ष और द्वन्द्व का योग संघटित हुआ। इसी द्वन्द्वात्मकता और संघर्ष से ही तो संसृति की गतिशीलता अक्षुण्ण बनी है। उस सर्ग में समस्त आधुनिक बुद्धिवादी विकृतियों का प्रतिबिंब मिलता है और आज के यांत्रिक जीवन की विषम परिस्थितियों का भी चित्रण यथाक्रम आ गया है। कामायनी के भीतर के ये सभी विवरण उसके रचना-काल का पूर्ण अभिज्ञान करा दे सकते हैं। इसी तरह चंद्रगुप्त नाटक में चाणक्य अपने शिष्यों को उपदेश देता है कि वे मालव-मागध की संकुचित भूमि से ऊपर उठकर भारतवर्ष को एक राष्ट्र और अपना राष्ट्र मानकर चलें तभी उद्धार हो सकेगा। इसी तरह नन्द की धर्म-नीति की

जो भर्त्सना की गई वहाँ मिलती है, उसमें अंगरेजों की भेद नीति का स्पष्ट प्रतिबिंब है। नंद बौद्धों और वैदिकों में भेद-बुद्धि उत्पन्न कर अपना उल्लू सीधा करता दिखाया गया है जैसे अंगरेज यहाँ हिंदू और मुसलमानों को लड़ा कर अपना पक्ष दृढ़ बनाते रहे। देश को जगाने के लिए अलका का हाथ में झंडा लेकर समवेत स्वर से उद्बोधन-गीत गाते चलना भी ई० सन् १९३१ के राष्ट्रीय आंदोलन का जीवंत रूप ही है। इन्हीं दृष्टांतों की तरह अन्य अनेक बातें कह कर यह सिद्ध किया जा सकता है कि प्रसाद में उत्तम कोटि की युगानुरूपता विद्यमान थी। इस प्रकार अतीत की पृष्ठभूमि पर आधुनिकता की स्थापना का क्रम प्रसाद-साहित्य में बड़ी सजीवता से हुआ है।

—:o:—

४

'प्रसाद'-साहित्य में राष्ट्रिय भावना

यों तो सभी साहित्यों में कालगति के अनुसार देश, मातृभूमि अथवा राष्ट्र के प्रति जन सामान्य की भावनाओं का सुंदर आकलन मिलेगा पर भारतेंदुयुगीन हिंदी साहित्य में जैसा विवरणपूर्ण और साभिप्राय कथन उसका हुआ है वैसा अन्यत्र दुर्लभ ही समझिए। उस समय का, सारा साहित्य, देश-प्रेम की विभूतियों से आपूर्ण है। कहीं अतीत गौरव की बात कही गई है, कहीं वर्तमान की दुर्बलताओं का उद्घाटन हुआ है और कहीं भविष्य के विषय में चिंता प्रकट की गई है। इस प्रकार सभी अवसरों पर और नाना भाँति राष्ट्र के अभ्युत्थान एवं उत्कर्ष की आकांक्षा प्रकट की गई है और उद्बोधन की आवश्यकता का प्रतिपादन हुआ है।

राष्ट्र-भावना की जड़ देश में जमती गई और कांग्रेस ऐसी लोकसेवी संस्था का जन्म और प्रसार हुआ। आगे चल कर बंगभंग ऐसे देश व्यापी आंदोलन का समय आया और देश में नूतन जागरण, आत्मगौरव, चरित्रबल उत्पन्न हुआ। देश की सामान्य जनता में उस समय जो राजनीतिक स्फूर्ति और स्पंदन जगा उसका पूर्ण संरक्षण तत्कालीन हिंदी साहित्य में दिखाई पड़ता है। बीसवीं शताब्दि के आरंभिक दशकों में जैसी चेष्टा

हिंदी की थी उसमें अतीत के दिव्य चित्रों और इतिवृत्तों का बारंबार अनेक रूप में इतना अनुकथन मिलता है कि स्वीकार करना पड़ेगा कि भारतीय गौरव के उत्कर्ष स्थापन में इस अग्र-गण्य साहित्य का पूरा योग था। उस समय के विविध लेखों और कविताओं में भारत की प्राचीन गरिमा का अनुरागपूर्ण चित्रण तो मिलता ही है; साथ ही यहाँ की भौगोलिक सुंदरता अथवा यहाँ की प्राकृतिक और सांस्कृतिक गठन की विशेषताओं का जैसा निरूपण तात्कालिक हिंदी साहित्य में किया गया है उससे सच्चे देश प्रेम की झाँकी मिल जाती है। यहाँ के रहन-सहन, खाना-पीना, वेष-भूषा, साहित्य, शिक्षा, लोकचारिता एवं आध्यात्म सभी की स्तुतिपूर्वक व्यंजना भरी दिखाई पड़ती है।

उस युग में हिंदी के जिन कृतिकारों ने जन्मभूमि, देशप्रेम अथवा भारतवर्ष के गुणानुवाद में कुछ लिखा और राष्ट्र भावना को उद्बुद्ध करने का प्रयास किया उनमें स्वर्गीय बाबू जयशंकर 'प्रसाद' का कृतित्व अमर है। उन्होंने एक प्रकार से अपनी आरं-भिक रचनाओं में ही इसका श्रीगणेश कर दिया था; क्योंकि 'कानन कुसुम' की कविताओं में इतस्ततः राष्ट्रप्रेम की ध्वनि स्पष्ट मिलने लगती है। भारत की प्राकृतिक सुषुमा में जो सजीवता है और उसके अतीत एवं वर्तमान की गौरवगाथा में जो उल्लास है उसका उल्लेख इस रचना में बड़े अनुराग और उत्फुल्लता से किया गया है। इस प्रसंग में कवि की आत्माभिव्यंजकता ही मुख्य वस्तु समझी जानी चाहिए। यहाँ कवि ने जिस रूप में विषय उपस्थित किया है उसमें उसका आंतरिक अनुराग पद-पद पर प्रकाशित हुआ है। ई० सन् १६२१ के जनतांत्रिक, सुगठित और देशव्यापी

राजनीतिक आंदोलन का स्वरूप अभी सामने नहीं आया था फिर भी कवि की वाणी इतना पूर्वाभास दे देती है।

हिम गिरि का उत्तुंग शृंग है सामने।
खड़ा बताता है भारत के गर्व को,
पड़ती इस पर जब माला रवि रश्मि की
मणियम हो जाता है नवल प्रभात में।

❀ ❀ ❀

यही 'भरत' वह बालक है, जिस नाम से
भारत संज्ञा पड़ी इसी वर भूमि की।

❀ ❀ ❀

वही वीर यह बालक है दुष्यंत का
भारत का शिर रत्न 'भरत' शुभ नाम है।

+ + +

जननी जिसकी जन्मभूमि हो, वसुंधरा ही काशी हो।
विश्व स्वदेश, भ्रातृ मानव हो, पिता परं अविनाशी हो॥

❀ ❀ ❀

जो अछूत का जगन्नाथ हो, कृषककारों का दृढ़ हल हो।
दुखिया की आँखों का आँसू और मजूरों का कल हो॥
प्रेम भरा हो जीवन में, हो जीवन जिसकी कृतियों में।
अचल सत्य संकल्प रहे, न रहे सोता जागृतियों में॥
ऐसे युवक चिरंजीवी हों, देश बना सुख राशी हो।

इस रचना में 'प्रसाद' ने अछूत, कृषक और मजदूर का कथन करके राष्ट्र के भविष्य की अग्र सूचना तो दी ही है साथ ही अपने जाग्रत हृदय की मानवता को पूर्णतया अभिव्यंजित भी किया है।

इसी पुस्तक से ऐसे और भी स्थल निकाले जा सकते हैं जिनसे राष्ट्र-भावना के जागरण में योग मिलता हो और प्रत्यक्ष या प्रच्छन्न, मातृभूमि के प्रति अनुरक्ति भाव व्यंजित होता हो। इसी समय के लगभग जः छोटा सा काव्य 'महाराणा का महत्व' (इंदु—कला ५, खंड १, किरण ६, जून १६१४) प्रकाशित हुआ; उसमें भी प्रसंग के अनुकूल इसी प्रकार की देशभक्ति विषयक बातें मिलती हैं।

कहो कौन ?—आर्यजाति के तेज सा
देशभक्त, जननी का सच्चा पुत्र है
भारतवासी ! नाम बताना पड़ेगा—

❀ ❀ ❀

जन्मभूमि के लिए, प्रजा सुख के लिए,
इतना आत्मोत्सर्ग भला किसने किया ?
दुग्ध-फेन-निभ शय्या को यों छोड़ कर
सूखे पत्ते कौन चबाता है कहो—
मातृभूमि की भक्ति देशहित कामना,
किसको उत्तेजित करती है, वे कहाँ ?

आगे चलकर 'प्रसाद' की मातृभूमि भावना उत्तरोत्तर वृद्धि पाती गई और 'लहर' की कविताओं में पहुँच कर परिष्कृत पदावली में उसका जैसा उभाड़ दिखाई पड़ा वह उनके देशप्रेम के उत्साह-अनुराग का भव्य रूप उपस्थित करता है। 'वरुणा की शांत कछार', 'पेशोला का प्रतिध्वनि', 'शेरसिंह का आत्म समर्पण' और 'प्रलय की छाया' में उसका उन्मुक्त विहार देखने लायक है।

सिक्ख थे सजीव—
स्वत्व रक्षा में प्रबुद्ध थे।
जीना जानते थे,
मरने को मानते थे सिक्ख।

❀ ❀ ❀

गोले जिनके थे गेंद
अग्निमयी क्रीड़ा थी
रक्त की नदी में सिर ऊँचा छाती सीधी कर
तैरते थे।
वीर पंचनद के सपूत मातृभूमि के
सो गए प्रतारणा की थपकी लगी उन्हें।

—शेरसिंह का आत्मसमर्पण।

उक्त कविताओं के अतिरिक्त 'प्रसाद' की राष्ट्रिय भावना और अग्रगामी चेतना का पूर्ण विहार उनकी अमर नाटकीय कृतियों में भरा मिलता है। सामान्यतः अपने काल की जीवित विचार धाराओं, सामाजिक और सांस्कृतिक उल्लासों की प्राणमयी मूर्च्छना का संयोजन अपने अंतःकरण में हिंदी साहित्य सदैव से करता आया है पर विशेषतः पूर्व शताब्दि में उसकी अभेदता अतीव तीव्र हो उठी है। यों तो संपूर्ण 'प्रसाद'-साहित्य में देश प्रेम की व्यंजना मिलेगी पर नाटकों में तो इसका प्रयोग बड़े विस्तार से दिखाई पड़ता है। अपनी नाट्य रचनाओं की मूल प्रेरणा का रहस्य स्वयं लेखक ने प्रकट कर दिया है। उससे जो भव्य और मंगलमयी आकांक्षा प्रसाद के अंतःकरण की प्रकट होती है वह अपने ढंग की निराली है और उसके भीतर उनके भविष्य-दर्शन की क्षमता का पूरा आभास मिलता है। 'विशाख'

के प्रथम संस्करण (१९२१) की भूमिका में 'प्रसाद' ने स्पष्ट स्वीकार किया है :—

'इतिहास का अनुशीलन किसी भी जाति को अपना आदर्श संगठित करने के लिए अत्यंत लाभदायक होता है, × × क्योंकि हमारी गिरी दशा को उठाने के लिए हमारे जलवायु के अनुकूल जो हमारी अतीत सभ्यता है, उससे बढ़कर उपयुक्त और कोई भी आदर्श हमारे अनुकूल होगा कि नहीं इसमें हमें पूर्ण संदेह है। × × × मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश में से उन प्रकांड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है जिन्होंने हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया है।'

इस अभिप्राय को लेकर 'प्रसाद' जी ने भारत-युद्धोत्तर से लेकर हर्षवर्धन तक के ऐतिहासिक प्रसार को अपना लक्ष्य बनाया, क्योंकि यही भारत की गरिमा और उन्नति का सर्वाधिक प्रमाण है और यही स्वर्ण युग कहा जाने के योग्य है। इसके गर्भ में बौद्ध काल, मौर्ययुग और गुप्तकाल ऐसे अंश हैं जिनमें आर्य संस्कृति अपने उच्चतम उत्कर्ष पर स्थापित दिखाई पड़ती है। इस लिए अपने नाटकों में प्रसाद जी ने तत्कालीन उत्कर्षापकर्ष के यथार्थ चित्रण द्वारा अपने युग का परिष्कार करना चाहा और अतीत की गौरव गाथा सम्मुख उपस्थित कर वर्तमान के उद्बोधन और जागरण का स्तुत्य प्रयास किया। सामान्यतः इनके सभी नाटकों में इस उद्योग का सफल स्वरूप देखा जा सकता है पर यहाँ केवल दो नाटकों की ही विशेष परीक्षा की जायगी—चंद्रगुप्त और स्कंदगुप्त। एक में राष्ट्र-निर्माण का सफल प्रयास दिखाई पड़ता है तो दूसरे में उद्धार एवं संरक्षण का अद्भुत पराक्रम। इन दोनों

नाटकों के सभी पात्र देश-प्रेम से भरे हैं और उनके अपूर्व त्याग, साधना और कृतित्व से भारतीयता और भारत की राष्ट्रिय चेतना सर्वथा मुखरित हो उठी है।

चंद्रगुप्त नाटक में आचार्य चाणक्य के मुख से जो आर्यावर्त की समग्रता का पोषण और क्षुद्र खंडता तथा प्रादेशिकता का विरोध 'प्रसाद' ने उपस्थित किया है वही उस नाटक का बीजमंत्र बन जाता है। 'चाणक्य (चंद्रगुप्त और सिंहरण से)—तुम मालव हो और यह मागध, यहीं तुम्हारे मान का अवसान है न? परंतु आत्मसंमान इतने ही से संतुष्ट नहीं होगा। मालव और मागध को भूलकर जब तुम आर्यावर्त का नाम लोगे तभी वह मिलेगा।' उसी दृश्य में आगे चलकर सिंहरण तुरंत गांधार की राजकुमारी अलका से उसी वाणी को 'दुहराता है। 'सिंहरण—राजकुमारी......परंतु मेरा देश मालव ही नहीं गांधार भी है। यही क्या, समग्र आर्यावर्त है।' फिर तो इसी समग्र आर्यावर्त के संमान-रक्षा का भार लेकर चंद्रगुप्त, अलका और सिंहरण चलते हैं और पूर्णतः सफल होते हैं।

चंद्रगुप्त की पूर्ण सफलता का अभिनंदन करते हुए प्रायः नाटक के अंत में चाणक्य ने स्वीकार किया है—'तुम (आम्भीक) जानते हो कि चंद्रगुप्त ने दक्षिण के स्वर्णगिरि से पंचनद तक, सौराष्ट्र से बंग तक, एक महान साम्राज्य स्थापित किया है। यह साम्राज्य मगध का नहीं है, यह आर्य साम्राज्य है। इसी आर्यावर्त की गौरव-रक्षा में राजकुमारी अलका नेता बन जाती है और देश की स्वतंत्रता की आकांक्षा जनता में जगाती हुई अपने सगे भाई तक का खुला विरोध करती है। 'अलका—तक्षशिला के वीर नागरिको! एक बार अभी-अभी सम्राट चंद्रगुप्त ने इसका

उद्धार किया था, आर्यावर्त—प्यारा देश, ग्रीकों की विजय-लालसा से पुनः पददलित होने जा रहा है, तब तुम्हारा शासक तटस्थ रहने का ढोंग करके पुण्यभूमि को परतंत्रता की शृंखला पहनाने का दृश्य राजमहल के झरोखों से देखेगा। तुम्हारा राजा कायर है और तुम ?"......इस उत्साहमयी वाणी को सुनकर सारी प्रजा उसका साथ देती है और देश के लिए कृतसंकल्प होती है सभी एक स्वर से गा उठते हैं—

हिमाद्रि तुंग शृंग से प्रबुद्ध शुद्धभारती-
स्वयं प्रभा समुज्ज्वला स्वतंत्रता पुकारती-
'अमर्त्य वीरपुत्र हो, दृढ़ प्रतिज्ञ सोच लो,
प्रशस्त पुण्य पंथ है—बढ़े चलो बढ़े चलो।'

इत्यादि।

मालवदुर्ग में सिकंदर के चोट खा कर मूर्छित हो गिर जाने पर सारे मालव सैनिक उसे मार डालने के लिए तत्पर हो उठते हैं, परंतु सिंहरण ने भारतीय चारित्रिक उदारता का सुंदर निर्वाह किया।

"मालव सैनिक—सेनापति, रक्त का बदला। इस नृशंस ने निरीह जनता का अकारण बध किया है। प्रतिशोध !!

सिंहरण—ठहरो, मालव वीरो ! ठहरो। यह भी एक प्रतिशोध है। यह भारत के ऊपर एक ऋण था, पर्वतेश्वर के प्रति उदारता दिखाने का यह प्रत्युत्तर है। यवन ! जाओ, शीघ्र जाओ।"

सिंहरण के इस प्रत्युत्तर में उत्साहपूर्ण देशप्रेम ही ध्वनित हुआ है। इसी प्रकार संपूर्ण नाटक में देश-गौरव की रक्षा में लगे वीरों की पुण्य गाथा भरी मिलती है। इतना ही नहीं विदेशी विजेता सिकंदर के मुख से भी भारत के गौरव का बखान कराया

गया है और वह प्रसंग को देखते हुए प्रकृत मालूम पड़ता है। उसने एनिसाक्रटीज को संबोधन करके कहा है—'नहीं नहीं, यहाँ के दार्शनिक की परीक्षा तो तुम कर चुके—दांड्यायन को देखा न। थोड़ा ठहरो, यहाँ के वीरों का भी परिचय मिल जायगा। यह अद्भुत देश है।'

भारत की भूमि पर आनेवाले विदेशी यहाँ की प्राकृतिक सुषमा और सांस्कृतिक भव्यता देखकर मुग्ध हो उठते हैं। उनके मुख से भी 'प्रसाद' ने जो अपने देश के प्रति उद्गार प्रकट कराए हैं उनसे भारतीय गौरव की व्यापकता झलकती है। सिल्यूकस की पुत्री कुमारी कार्नेलिया भारत की भावी कल्याणी है और सम्राट् चंद्रगुप्त की परिणीता होनेवाली है। इस सत्य के अनुरूप आरंभ से ही उसमें भारतप्रेम का जैसा दिव्य विहार दिखाया गया है वह सर्वथा सहज है और परिस्थिति द्वारा अनुमोदित है। भारत की प्राकृतिक और सांस्कृतिक मनोरमता उसे अत्यधिक प्रिय है। वह यहाँ की विचारधाराओं के मनन में रस लेती है, यहाँ के संगीत की शिक्षा प्राप्त करती है और यहाँ के संपूर्ण वातावरण से अपने को प्रभावित पाती है।

'सिंधु का यह मनोहर तट जैसे मेरी आँखों के सामने एक नया चित्रपट उपस्थित कर रहा है। इस वातावरण से धीरे धीरे उठती हुई प्रशांत स्निग्धता जैसे हृदय में घुस रही है। लंबी यात्रा करके, जैसे मैं वहीं पहुँच गई हूँ, जहाँ के लिए चली थी, यह कितना निसर्ग सुंदर है, कितना रमणीय है। हाँ आज वह भारतीय संगीत का पाठ देखूँ, भूल तो नहीं गई।' गाती है—

'अरुण यह मधुमय देश हमारा
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।

सरस तामरस गर्भ विभा पर नाच रही तरुशिखा मनोहर।
छिटका जीवन हरियाली पर मंगल कुंकुम सारा।
लघु सुरधनु से पंख पसारे, शीतल मलय समीर सहारे।
उड़ते खग जिस ओर मुँह किए, समझ नीड़ निज प्यारा।
बरसाती आँखों के बादल, बनते जहाँ भरे करुणा जल।
लहरें टकराती अनंत की, पाकर जहाँ किनारा।
हेम कुंभ ले उषा सवेरे, भरती ढुलकाती सुख मेरे।
मदिर ऊँघते रहते जब, जग कर रजनीभर तारा।'

❀ ❀ ❀

'मुझे इस देश से जन्मभूमि के समान स्नेह होता जा रहा है। यहाँ के श्यामल कुंज, घने जंगल, सरिताओं की माला पहने हुए शैलश्रेणी, हरी-भरी वर्षा, गर्मी की चाँदनी, शीतकाल की धूप और भोले कृषक तथा सरला कृषक बालिकाएँ, बाल्यकाल की सुनी हुई कहानियों की जीवित प्रतिमाएँ हैं। यह स्वप्नों का देश, यह त्याग और ज्ञान का पालना, यह प्रेम की रंगभूमि भुलाई जा सकती है ? कदापि नहीं। अन्य देश मनुष्यों की जन्मभूमि हैं; यह भारत मानवता की जन्मभूमि है।'

'प्रसाद' की राष्ट्रिय-भावना का पूर्ण विकसित और स्फुट रूप उनके प्रसिद्ध नाटक 'स्कंदगुप्त' में दिखाई पड़ता है। उसमें एक-से-एक बढ़कर सुंदर और व्यक्तित्व से भरे पात्र मिलते हैं जिनमें देशप्रेम के लिए अधिक से अधिक त्याग की भावना भरी मिलती है। स्कंदगुप्त के अतिरिक्त बंधुवर्मा, शर्वनाग, पर्णदत्त, चक्रपालित, देवसेना, कमला इत्यादि भी शक और हूणों से आतंकित आर्यावर्त के संरक्षण में अपने धनधाम और शरीर को सर्वथा समर्पित करते मिलते हैं। इन सभी कर्मनिष्ठ और कर्तव्यपरायण पात्रों में

अद्भुत त्याग, साधना, कष्ट-सहिष्णुता और लगन दिखाई पड़ती। अपने दल के इन राष्ट्रभक्तों को लेकर स्कंदगुप्त ने जो प्रचंड वीरता प्रदर्शित की है, वह भारतीय इतिहास में बेजोड़ वस्तु है। विचलित हुई गुप्तकुल की लक्ष्मी के समुद्धार के लिए और विपत्ति की प्रलय-मेघमाला से आतंकित आर्यावर्त की सुरक्षा के निमित्त जो अलौकिक उत्साह, वीरता, त्याग और अथक परिश्रम उसने किया है वह युगयुग के लिए आदर्श रूप है। भितरी का शिला-लेख उसकी दिव्य प्रशस्ति का संकेत इस प्रकार देता है—

(१) विचलित कुल लक्ष्मीस्तम्भनायोद्यतेन
क्षितितलशयनीये येन नीता त्रियामा।
समुदितबलकोशान् पुष्यमित्रांश्च जित्वा,
क्षितिपचरणपीठे स्थापितो वामपादः ॥

(२) पितरि दिवमुपेते विप्लुतां वंशलक्ष्मीम्,
भुजबलविजितारिर्यः प्रतिष्ठाप्य भूयः।
जितमिति परितोषान्मातरं सास्रनेत्राम्
हतरिपुरिव कृष्णो देवकीमभ्युपेतः ॥

(३) हूणैर्यस्य समागतस्य समरे दोर्भ्यां धरा कंपिता।

इत्यादि।

स्कंदगुप्त के इस अपार शक्तिप्रदर्शन के मूल में जिस राष्ट्रप्रेम का बारंबार कथन और चित्रण इस नाटक में हुआ है वही नाटकीय प्रभावोत्पादकता का मुख्य रहस्य है। नायक के सभी अन्य साथी आर्य राष्ट्र की रक्षा में जिस रूप से सन्नद्ध दिखाई पड़ते हैं इसके भीतर एक मन, एक आदर्श और एक वाणी का ही उद्घोष सर्वत्र मुखरित मिलता है। एक लक्ष्य को सामने रखे सब संघर्षों का सामना करते हैं।

देशप्रेम से आपूर्ण विशिष्ट पात्रों के निम्नलिखित संवादात्मक वचनों से उनकी उदारता, त्याग, कष्ट सहिष्णुता और हृदय की उच्चता का रूप स्फुटित हो जाता है। इसी देशप्रेम की भावना से प्रेरित होकर मालवनरेश बंधुवर्मा ने राज्य-त्याग कर दिया और आर्यावर्त की रक्षा में युद्ध करते हुए प्राणोत्सर्ग किया। इस नाटक की मूल प्रेरणा देशप्रेममयी दिखाई पड़ती है और सभी प्रमुख पात्रों को देश का ध्यान पहले है।

बंधुवर्मा—भीम! क्षत्रिय का कर्तव्य है—आर्तत्राणपरायण होना, विपद् का हँसते हुए आलिंगन करना, विभीषिकाओं की मुसक्या कर अवहेला करना, और—और विपन्नों के लिए, अपने धर्म के लिए, देश के लिए प्राण देना!

❀ ❀ ❀

भीमवर्मा—भाभी! अब तर्क न करो। समस्त देश के कल्याण के लिए एक कुटुंब की भी नहीं, उसके क्षुद्र स्वार्थों की बलि होने दो। भाभी! हृदय नाच उठा है, जाने दो इस नीच प्रस्ताव को। देखो—हमारा अर्यावर्त विपन्न है, यदि हम मर-पिट कर भी इसकी कुछ सेवा कर सकें।

❀ ❀ ❀

स्कंदगुप्त—आर्य! (गोविंदगुप्त से) इस गुरुभार उत्तर-दायित्व का सत्य से पालन कर सकूँ, और आर्यावर्त की रक्षा में सर्वस्व अर्पण कर सकूँ, आप लोग इसके लिए भगवान से प्रार्थना कीजिए और आशीर्वाद दीजिए कि स्कंदगुप्त अपने कर्तव्य से, स्वदेश सेवा से कभी विचलित न हो।

❀ ❀ ❀

शर्वनाग—विजया ! चलो, देश के प्रत्येक बच्चे, बूढ़े और युवक को उसकी भलाई में लगाना होगा। आओ, यदि हम राजसिंहासन न प्रस्तुत कर सकें तो हमें अधीर न होना चाहिए, हम देश की प्रत्येक गली को झाड़ू देकर ही इतना स्वच्छ कर दें कि उस पर चलने वाले राजमार्ग का सुख पावें।

मातृगुप्त—तो सब गया ! नाचती हुई नीहार-कणिकाओं पर तीखी किरणों के भाले। ओह ! सोचा था कि देवता जागेंगे, एक बार आर्यावर्त में गौरव का सूर्य चमकेगा, और पुण्यकर्मों से से समस्त पाप-पंक धो जायँगे, हिमालय से निकली हुई सप्तसिंधु तथा गंगा-यमुना की घाटियाँ, किसी आर्य सद्‌गृहस्थ के स्वच्छ और पवित्र आंगन-सी, भूखी जाति के निर्वासित प्राणियों को अन्नदान देकर संतुष्ट करेंगी; और आर्यजाति अपने दृढ़ सबल हाथों में शस्त्र ग्रहण करके पुण्य का पुरस्कार और पाप का तिरस्कार करती हुई, अचल हिमाचल की भाँति सिर ऊँचा किए, विश्व को सदाचरण के लिए सावधान करती रहेगी।......

धातुसेन—भारत समग्र विश्व का है, और संपूर्ण वसुंधरा इसके प्रेमपाश में आबद्ध है। अनादि काल से ज्ञान की, मानवता की, ज्योति यह विकीर्ण कर रहा है ? तुम देखते नहीं कि विश्व का सबसे ऊँचा शृंग इसके सिरहाने, और सबसे गंभीर तथा विशाल समुद्र इसके चरणों के नीचे है। एक-से-एक सुंदर दृश्य प्रकृति ने अपने इस घर में चित्रित कर रखा है, भारत के कल्याण के लिए मेरा सर्वस्व अर्पित है।

❀ ❀ ❀

स्कंदगुप्त—तुम वीर हो इस समय देश को वीरों की आवश्यकता है। तुम्हारा यह प्रायश्चित नहीं। रणभूमि में प्राण देकर जननी जन्मभूमि का उपकार करो। भटार्क। यदि कोई साथी न मिला तो साम्राज्य के लिए नहीं—जन्मभूमि के उद्धार के लिए मैं अकेला युद्ध करूँगा।

❀ ❀ ❀

(समवेत स्वर में वीरों का गान)

हिमालय के आंगन में उसे प्रथम किरणों का दे उपहार।
उषा ने हँस अभिनंदन किया और पहनाया हीरक-हार॥
जगे हम, लगे जगाने, विश्व लोक में फैला फिर आलोक।
व्योम-तम-पुंज हुआ तब नष्ट, अखिल संसृति हो उठी अशोक॥
विमल वाणी ने वीणा ली कमल-कोमल-कर में सप्रीत।
सप्तस्वर सप्तसिंधु में उठे, छिड़ा तब मधुर साम-संगीत॥
बचाकर बीज-रूप से सृष्टि, नाव पर झेल प्रलय का शीत।
अरुण केतन लेकर निज हाथ वरुण पथ में हम बढ़े अभीत॥
सुना है दधीचि का वह त्याग हमारी जातीयता विकास।
पुरंदर ने पवि से है लिखा अस्थि-युग का मेरे इतिहास॥
सिंधु-सा विस्तृत और अथाह एक निर्वासित का उत्साह।
दे रही अभी दिखाई भग्न मग्न रत्नाकर में वह राह॥
धर्म का ले लेकर जो नाम हुआ करती बलि, कर दी बंद।
हमीं ने दिया शांति-संदेश, सुखी होते देकर आनंद।
विजय केवल लोहे की नहीं, धर्म की रही धरा पर धूम।
भिक्षु होकर रहते सम्राट दया दिखलाते घर-घर घूम॥
यवन को दिया दया का दान, चीन को मिली धर्म की दृष्टि।
मिला था स्वर्ण-भूमि को रत्न, शील की सिंहल को भी सृष्टि॥

किसी का हमने छीना नहीं, प्रकृति का रहा पालना यहीं।
हमारी जन्मभूमि थी यही, कहीं से हम आये थे नहीं॥
जातियों का उत्थान-पतन आँधियाँ, झड़ी, प्रचंड समीर।
खड़े देखा, झेला हँसते, प्रलय में पले हुए हम वीर॥
चरित थे पूत, भुजा में शक्ति, नम्रता रही सदा संपन्न।
हृदय के गौरव में था गर्व, किसी को देख न सके विपन्न॥
हमारे संचय में था दान, अतिथि थे सदा हमारे देव।
वचन में सत्य, हृदय में तेज, प्रतिज्ञा में रहती थी टेव॥
वही है रक्त, वही है देश, वही साहस है, वैसा ज्ञान।
वही है शांति, वही है शक्ति, वही हम दिव्य आर्य-संतान॥
जियें तो सदा उसी के लिये, यही अभिमान रहे, यह हर्ष।
निछावर कर दें हम सर्वस्व हमारा प्यारा भारतवर्ष॥

उक्त प्रमाणों के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि सामान्यतः संपूर्ण 'प्रसाद'-साहित्य में और प्रधानतः उनकी नाटकीय रचनाओं में देशप्रेम और राष्ट्रिय-भावना की जैसी सुंदर मर्मस्पर्शी और प्रभावशाली विवृति है वह अपने ढंग की सर्वथा निराली है और उससे समस्त हिंदी-साहित्य आलोकित है।

———

५

'प्रसाद' की कहानियाँ

(१)

हिंदी में ऐतिहासिक अनुक्रम अथवा विकास-वृद्धि के विचार से भले ही कहानी - रचना का आरंभ इंशाल्ला खां की 'रानी केतकी की कहानी' से अथवा राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद के 'राजा भोज का सपना' से स्वीकार कर लिया जाय पर विषय निर्वाह और रचना-विधि के आधार का तात्विक विश्लेषण करने से यह स्पष्ट हो जायगा कि कहानी का जो वर्तमान स्वरूप आज विकसित मिलता है उससे उक्त कृतियों का कोई विशेष संबन्ध नहीं है। उनमें विषय-संग्रह और निर्वाह की जो प्रवृत्ति अपनाई गई है उससे आज की कहानियों का विकास सिद्ध करना बौद्धिक व्यायाम ही मालूम पड़ता है। हिंदी साहित्य के इतिहास में पं० रामचंद्र शुक्ल ने कुछ कहानियों का—आरंभ की मौलिक कृतियों के रूप में उल्लेख किया है। उनको भी केवल ऐतिहासिक महत्व प्राप्त हो सकता है। उनमें से किसी लेखक का स्वरूप आगे चलकर अपना कोई मार्ग निर्दिष्ट नहीं कर सका और न उनका कोई प्रभाव विस्तार ही कहीं दिखाई पड़ता। अतएव विषय का आरंभ वहाँ से भी नहीं स्वीकार किया जा सकता।

वस्तुतः काशीकी 'इंदु' पत्रिका से ही कहानी का आरंभ

होता है, क्योंकि उसके उपरांत तो फिर कहानी हिंदी-क्षेत्र में अपना घर कर लेती है और उसकी अटूट शृंखला आगे बढ़ चलती है। किसी विषय के आरंभिक युग में इस शृंखलाक्रम को ही विशेष महत्त्व देना चाहिए, क्योंकि बिना आंतरिक पोषक तत्वों के किसी चीज को स्थायित्व नहीं प्राप्त होता और यदि ऐसे तत्वों का योग निरंतर बना रहा तो उस चीज का उत्तरोत्तर विकास होता जायगा; उसकी सजीवता लोगों का ध्यान आकर्षित किए रहेगी। इस विचार से हिंदी में कहानी-सर्जना का उदय 'इंदु' मासिक पत्रिका से मानना समीचीन ज्ञात होता है। बीसवीं शताब्दि के द्वितीय दशक के आरंभ से ही जिन साहित्यकारों की कहानियाँ सामने आईं उनमें स्वर्गीय जयशंकर 'प्रसाद' सर्वश्रेष्ठ थे। उनके लिखने का क्रम कभी विच्छिन्न नहीं हुआ। निरंतर लिखते रहने से शीघ्र ही उसमें परिष्कार का स्वरूप दिखाई पड़ने लगा। 'प्रसाद' कविता नाटक इत्यादि भी क्रम से लिखते रहते थे; इसलिए आरंभिक काल में संख्या के विचार से अधिक कहानियाँ नहीं लिख सके, पर जो कुछ भी इस माध्यम से उन्होंने उपस्थित किया उसमें भव्य भविष्य का आभास स्पष्ट मिल जाता था।

'प्रसाद' की कहानी-रचना का प्रथम अध्याय 'छाया' संग्रह है। इसमें आरंभ की लिखी ग्यारह कहानियाँ संग्रहीत हैं, जिसका रचना काल ई० सन् १९१० से १९१४ तक है। उनमें भी दो वर्षों तक (ई० सन् १९१२ से १४) अन्य कार्यों में व्यस्त रहने के कारण कहानी रचना नहीं हो सकी थी। 'गुलाम' और 'चित्तौर उद्धार' शीर्षक कहानियाँ सन् १९१४ में लिखी गई थीं। इन दोनों के अतिरिक्त इस संग्रह की अन्य कहानियाँ सितंबर १९१०

से जुलाई १९१२ तक प्रकाशित हो चुकी थीं। ये सभी रचनाएँ क्रम से 'इन्दु' मासिक पत्रिका में छपी थीं।

'छाया' शीर्षक कहानी संग्रह पहली बार सन १९१२ में प्रकाशित हुआ। उसमें केवल पाँच आरंभिक रचनाएँ छपीं—ग्राम, चन्दा, मदनमृणालिनी, रसिया बालम और तानसेन। आगे चलकर जिस समय सन् १९१८ में इसी संग्रह का द्वितीय संस्करण प्रकाशित हुआ तो उसमें छः कहानियाँ और बढ़ा दी गईं—जहाँनारा, शरणागत, अशोक, सिकन्दर की शपथ, गुलाम और चित्तौर-उद्धार। ये सभी रचनाएँ जहाँ एक ओर कृतिकार के काल विशेष की योग्यता और आकांक्षा को प्रकट करती हैं वहीं उसकी मौलिक वृत्तियों और व्यक्तिगत अभिरुचि का भी संकेत देती हैं।

'छाया' प्रयास काल की देन है, अतः न तो उसके वस्तु-विन्यास की ही मार्मिक मीमांसा होनी चाहिए और न चरित्र विषयक सूक्ष्म उतार-चढ़ाव की ही परीक्षा करनी चाहिए। उस समय के उभड़ते हुए कलाकार की सामूहिक चेतना का सामान्य परिचय यथेष्ट होगा। इस दृष्टि से इन रचनाओं में दो बातें बहुत स्पष्ट दिखाई पड़ती हैं। काव्यतत्व की ओर आकर्षण और विषयानुरूप पूर्वपीठिका की शृंगार-सज्जा। इन्हीं दोनों कृतियों की ओर निरंतर 'प्रसाद' जी बढ़ते गए और अपने प्रौढ़काल में पहुँचकर भी इन दो विशेषताओं को अपनाए रहे। यदि कला-कुशलता के विकासक्रम की पूरी विवेचना की जाय तो उनकी प्रौढ़कालीन सर्वोत्तम रचनाओं की प्रमुखतम विशिष्टताओं के मूल रूपों की झलक आरंभिक कहानियों में भी मिलेगी। यही 'छाया' में सबसे बड़े महत्व की बात है और इसी आधार पर उसकी छानबीन होनी चाहिए।

विषय-निर्वाचन के विचार से भी मानना पड़ेगा कि इन कहानियों का अपना विशेष स्थान है। प्रथम संस्करण में सभी रचनाएँ सामान्य जीवन से संबद्ध दिखाई पड़ती हैं। 'चंदा' 'ग्राम' 'रसिया बालम' आदि सभी में जीवन की समतल भूमिपर बहने-वाले भावस्रोतों के दर्शन होते हैं। ये सभी स्रोत अपनी सुंदर-ताओं से आवृत्त अपने पूरेपन का परिचय देते हैं। भाव-चित्रण की ओर लेखक का यही अनुराग उत्तरोत्तर बढ़ता गया और कालांतर में इसी भावप्रेम ने 'प्रसाद' को भावात्मक कहानियों का सर्वोत्तम निर्माता बना दिया। अतः प्रौढ़ 'प्रसाद' में प्राप्त होनेवाले भाव - विधान को यदि पूर्वापर अच्छी तरह समझना हो तो आवश्यक होगा इस 'छाया' का अध्ययन। साथ ही ऐतिहासिक इतिवृत्तों के आधार पर जो श्रेष्ठ कृतियाँ आगे 'प्रसाद' जी ने उपस्थित कीं उनका भी श्रीगणेश इसी काल में हो चुका था। इतिहास के अंतराल में प्रवेश कर विषय-चयन की जो दिव्य शक्ति 'प्रसाद' में सजीव थी उसका आरंभ भी 'छाया' के द्वितीय संस्करण से मानना चाहिए। 'जहाँनारा' 'अशोक' 'सिकन्दर की शपथ' इत्यादि में उनके बीज स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं।

इस संग्रह में लेखक ने जो एक छोटा-सा 'निवेदन'[1] लिखा

---

[1] निवेदन

पाठकवृंद इस पुस्तक का नाम 'छाया' देखकर अवश्य चकित होंगे। किंतु मेरा अनुमान है कि छोटी छोटी आख्यायिकाओं में किसी घटना का पूर्ण चित्र नहीं खींचा जा सकता, इस कारण इन आख्यायि-काओं को उन घटनाओं की छाया कहना ही ठीक है।

साहित्य में ऐसी छोटी छोटी आख्यायिकाएँ केवल विनोद के लिये

है वह बहुत महत्त्वपूर्ण है। महत्व की उसमें तीन बाते हैं। प्रथम तो संग्रह के शीर्षक का अर्थ स्पष्ट किया गया है और उसके औचित्य की ओर संकेत किया गया है। दूसरी बात कहानी के परिमित विस्तार का उल्लेख करती है और उसकी इस परिमिति में भी प्रभाव का होना आवश्यक बताती है। तीसरी बात लेखक के रचना-कर्म की एक प्रमुख विशिष्टता की ओर ध्यान आकर्षित करती है। आगे चलकर 'प्रसाद' में 'अंत' को जो अनुमानाश्रित रूप देने की कुशल सुंदरता दिखाई पड़ती है उसका रहस्य लेखक ने इस 'निवेदन' के अंतिम वाक्य में स्पष्ट किया है। इस प्रकार इन तीनों बातों का सीधा संबंध 'प्रसाद' की भावी कहानी-रचना से है अतएव उन्हें अतीव महत्त्वपूर्ण मानना चाहिए।

'छाया' के उपरांत 'प्रतिध्वनि' का संकलन 'प्रसाद' का द्वितीय प्रयोग था। प्रायः साहित्य-सर्जना के अन्य क्षेत्रों में भी 'प्रसाद' ने पहले भिन्न - भिन्न प्रयोग किए थे—इस अभिप्राय से कि देखें रचना-विधान का कौन-सा रूप उनकी काव्य-आकांक्षा को पूर्णतया अभीष्ट हो सकता है। नाटक, काव्य, उपन्यास इत्यादि सभी में उन्होंने आरंभ में विविध गठनवाली रचनाएँ तैयार कीं केवल इस विचार से कि प्रायोगिक सिद्धि कहाँ कैसी प्राप्त होती है

ही नहीं, उनसे हृदयपट पर एक ऐसी छाया पड़ती है जो गंभीर अथच प्रभावशालिनी होती है। मानव हृदय को उनकी अपूर्णता, कल्पना के विस्तृत काननमें छोड़कर उसे घूमने का अवकाश देती है, जिसमें पाठकों को अद्भुत आनंद मिलता है।

काशी। विनीत

१९६९ जयशंकर 'प्रसाद'

यह समझ लें तो फिर भविष्य का एक निश्चित ढंग स्थिर करें। इसी दृष्टि से कहानी के आरंभ में भी दो भिन्न प्रकार के स्वतंत्र प्रयोग किए जो 'छाया' और 'प्रतिध्वनि' में मिलते हैं। 'छाया' की प्रायः सभी कहानियाँ इतिवृत्त प्रधान हैं। इसमें उन्होंने सुकुमार भाव - विवृति के लिए कथात्मक प्रसार का योग लिया है। आगे चलकर 'प्रतिध्वनि' में एक नए रचना-विधान की परीक्षा की गई है। उसमें इतिवृत्ति न्यून अथवा कहीं-कहीं नहीं के बराबर ग्रहण किया है। कथांश केवल उतना ही स्वीकार किया गया है जितना भाव स्थापन के लिए आसन का काम दे सके। इस संग्रह की प्रायः सभी कहानियाँ भावमूलक हैं। उनमें कथानक की ओर ध्यान नहीं जाता, उसके काव्य पक्ष अथवा सांकेतिकता में ही विशेष चमत्कार दिखाई पड़ता है।

'प्रतिध्वनि' की कहानियों में किसी एक भाव अथवा संकेत की ऐकांतिकता को ही प्रतिपाद्य और लक्ष्य बना लेने से एक सर्वथा नूतन रचना-परिपाटी सामने आई। इस प्रकार का प्रयोग उस समय के अन्य किसी लेखक ने नहीं किया था। 'प्रसाद' की भविष्यदर्शी प्रतिभा ने उसके मौलिक सौंदर्य को ठीक से संगठित कर लिया और इन पंद्रह रचनाओं में उसकी प्रयोग विधि को स्थिरता प्रदान की। वस्तुतः भावात्मक कहानियों का श्रीगणेश यहीं से हुआ और उत्तरोत्तर इस रूप का क्रमशः परिष्कार होता गया—'प्रसाद' में भी और इस वर्ग के अन्य अनेक कृतिकारों में भी। इस संग्रह की रचनाओं में भावात्मक कहानी के सभी अवयव संगठित मिलते हैं। आगे चलकर 'छाया' का ही विकसित एवं प्रौढ़ परिष्कृत रूप 'आँधी' और 'इंद्रजाल' में स्फुटित हुआ है और 'प्रतिध्वनि' का 'आकाशदीप' में। यों तो इतिवृत्तात्मक

कहानियाँ भी 'प्रसाद' की बेजोड़ हैं पर भावात्मक तो सर्वथा अजेय हैं। उनमें कवि 'प्रसाद' की कल्लोलिनी कल्पना और प्रतीक अलंकरण को खुल-खेलने का जो अवसर मिला वह भारतीय काव्य सृष्टि की अपनी शैली है।

'प्रतिध्वनि' की पहली कहानी 'प्रसाद' है। इसमें कथा-भाग नहीं के बराबर है। एक मनःस्थिति और उसके परिमाण का भव्य चित्रण मात्र है। 'सरला' मन में सोच रही थी, 'मैं दो चार फूलपत्तो ही लेकर आई। परंतु चढ़ाने का, अर्पण करने का हृदय में गौरव था। दान की सो भी किसे! भगवान को! मनमें उत्साह था। परंतु हाय! 'प्रसाद' की आशा ने—शुभ कामना के बदले की लिप्सा ने मुझे छोटा बना कर अभी तक रोक रखा। सब दर्शक चले गए, मैं खड़ी हूँ, किस लिए। अपने उन्हीं अर्पण किए हुए दो चार फूल लौटा लेने के लिए, तो चलूँ। जान में या अनजान में पुजारी ने भगवान की एकावली सरला के नत गले में डाल दी! प्रतिमा प्रसन्न होकर हँस पड़ी।" मूलतः कहानी में प्रतिपाद्य भी यही है और कथा भाग भी इतना ही है। इतने के अतिरिक्त जो कुछ है वह सब विषय - स्थापन की शृंगार - सज्जा मात्र है। इस कहानी द्वारा कलाकार ने केवल इतना ही कहा है कि नियति मानव-हृदय की भावना में परिणत होकर प्रेरित करती है कुछ समर्पित करने के लिए और कुछ पाने के लिए। इस लेन-देन में ही मानव-मन की मिठास पूर्णता ग्रहण करती है।

इसी तरह आगे की अन्य सभी कहानियों में एक न एक भाव चित्र अंकित मिलते हैं। 'गूदड़ साँई' में अपनी गूदड़ी का मर्म साँई इस प्रकार समझाता है—'इस चीथड़े को लेकर भागते हैं। भगवान और मैं उनसे लड़कर छीन लेता हूँ फिर उन्हीं से

छिनवाने के लिए, उनके मनोविनोद के लिए। सोने का खिलौना तो उचक्के भी छीनते हैं, पर चीथड़ा पर भगवान ही दया करते हैं। माया मोह से परे रहनेवाले साँई के हृदय में कैसी माधुर्य की ऐकांतिकता निवास करती है—इसीका चित्र कहानी में है। बालक के रूप में भगवान की छबि ही तो खेलती रहती है और साँई के हृदय में उसी का प्रसार है। 'गूदड़ी में लाल' शीर्षक कहानी में है 'एक बुढ़िया का जीर्ण कंकाल, जिसके भीतर अभिमान के लय में करुणा की रागिनी बजा करती है। स्वाभिमान ही चरित्र में लाल के समान मूल्यवान वस्तु है। जिसके पास यह रत्न है वही वस्तुतः अमीर है। बुढ़िया की गरीबी में यही स्वाभिमान गुदड़ी का लाल बन गया।

'अघोरी का मोह' शीर्षक इतिवृत्तात्मक कहानी में नियति के चक्र में पड़े दो बाल सखाओं की भूली स्मृति को जगाने का उपक्रम मिलता है। बाल्यावस्था के सुखद दिनों में किसी समय ऐश्वर्य पुत्र ललित ने अपने दरिद्र मित्र किशोर की सूखी रोटी खाने का आग्रह किया और इसे किशोर ने भी स्वीकार किया था। पचीस वर्षों के उपरांत दैवयोग से एक दिन यह पुरानी स्वीकृति कार्य रूप में परिणत भी हुई पर बातें विस्मृति के गर्त में हुईं। कहानी में कोई विशेष चमत्कार न रहने पर भी भावुकता की रंगीनी अवश्य है। 'पाप की पराजय' में सामान्य इतिवृत्त का योग लेकर भावभूमियों के पट का दृश्य उपस्थित किया गया है। परिस्थितिवश राजकुमार घनश्याम के सामने समस्या आती है—'क्या सौंदर्य उपभोग के लिए नहीं, केवल उपासना के लिए है ?' इसी समस्या का समुचित उत्तर इस कहानी में मिलता है। किस प्रकार परिस्थिति - भेद से कामभाव बदल गया और

उसी के भीतर से रागरंजित कर्तव्य की प्रेरणा जगी—इसी का चित्र कहानी में दिया गया है। बात सीधी होने पर भी काव्यतत्त्व से संवलित होने के कारण सरस बन गई है। 'सहयोग' में कुछ नहीं है। पतिपत्नी के पारस्परिक संबंध के एक साधारण विषय को लेकर दिखाया गया है कि पहले मोहन ने किस प्रकार मनोरमा को अपनी गतिविधि में ढाल कर चिरसंगिनी न बनाकर केवल दासी बनाता है; पर आगे चलकर अपनी ही बनावट से खिन्न होता है और परिवर्तन की आकांक्षा प्रकट करता है।

'पत्थर की पुकार' में आदर्श एवं यथार्थ का द्वन्द्व दिखाया गया है। आदर्श कल्पना प्रसूत होता है, उसे अतीत और करुण प्रिय है, पर वह यथार्थ ज्ञान से दूर रहकर केवल उसकी भावना भर कर सकता है। यदि उसकी प्रियता निश्चेष्ट और क्रिया-विहीन है तब उसमें सौंदर्य कहां। इसका यथार्थवादी उत्तर कहानी के अंत में बूढ़े संगतराश ने दिया है—'आप लोग अमीर आदमी हैं। अपने श्रवणेंद्रियों से पत्थर का रोना, लहरों का संगीत, पवन की हँसी इत्यादि कितनी सूक्ष्म बातें सुन लेते हैं और उसकी पुकार में दत्तचित्त हो जाते हैं, करुणा से पुलकित होते हैं। किंतु क्या कभी दुखी हृदय के नीरव क्रंदन को भी अंतरात्मा की श्रवणेंद्रिय को सुनने देते हैं, जो करुण का काल्पनिक नहीं किंतु वास्तविक रूप है। 'आदर्श और यथार्थ का यही रहस्य कहानी का प्रतिपाद्य है। 'उस पार का योगी' कहानी गद्यकाव्य है। खुले समाज में जो सिद्धि न मिल सकी वह नदी की धारा में प्राप्त हो गई—इसके अतिरिक्त सब कविता है जिससे केवल इतना आभास मिलता है कि नंदलाल अपनी प्रेमिका से कितना अभिन्न है। 'करुणा की विजय' में भावुक लेखक ने समाज के मर्म का

उद्‌घाटन किया है। तीन बरस की रामकली की रक्षा का भार आ पड़ा तेरह वर्ष के निरीह और निरवलंब बालक मोहन पर। इस ओर न देखा समाज ने न किसी अन्य सज्जन ने। समाज की इस गलित दुर्बलता की जो आलोचना न्यायाधीश ने की है वही प्रतिपाद्य है—कहानी का। 'खंड़हर की लिपि' का आधार, इतिहास को बनाकर कल्पना सजाई गई है। स्वप्न के योग ने बात पूरी कर दी है। वातावरण संबंधी मनोरमता और कथांश की क्षीण रेखा ने कुछ धुंधली सी मधुरिमा पैदा की और बस! 'कलावती की शिक्षा' में 'कांतासस्मित तयोपदेशयुजे' का सफल चित्रण है। श्यामसुंदर और कलावती की एक रात की रसमयी कहानी है। उसमें बात तो कुछ नहीं है, केवल एक व्यावहारिक विदग्धता ने बात बना ली है।

'चक्रवर्ती का स्तंभ' शीर्षक कहानी में भी इतिहास की झलक मिलती है। अशोक के स्तंभ का आधार लेकर और सरला के जिज्ञासा भरे प्रश्नों की आड़ में धर्मरक्षित ने सामान्य बौद्ध महिमा का उल्लेख किया है,साथ ही यह भी दिखाया गया है कि अवसर के अनुसार कैसे एक धर्म दूसरे धर्म पर आघात करता है। 'दुखिया' कहानी में ग्रामजीवन का चित्रण है। दुखिया अपने दैनिक कार्यों में लगी रहती है—आम और महुए बीनती, घास छील धोकर अस्तबल में पहुँचाती और अपने अंधे बूढ़े बाप का भरण-पोषण करती है। एक दिन जब वह घास कर रही थी कुमार मोहन वहीं आकर घोड़े से गिरता है और वह उसकी सेवा करती है। कुमार दुखिया की झोपड़ी में आकर उसके बाप से मिलता है और उसे इनाम देता है। इसी घटना के कारण दुखिया जब विलंब से घास लेकर अस्तबल में जाती है तब दारोगा उसे

डाँटता है। कहानी प्रकृति से कारुणिक है। एक ओर कुमार दुखिया पर अनुग्रह बरसाता है और दूसरी ओर उसी का नौकर डाँटता है। जीवन की इसी यथार्थता का प्रकाशन कहानी में किया गया है। 'प्रतिमा' में पूजा-अर्चना पर आराधक की मनःस्थिति का प्रभाव दिखाया गया है। किस प्रकार सरला की मृत्यु से दुखी कुंजविहारी के मन में देवविग्रह के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न होती है और पुनः कैसे रजनी के कारण फिर उस ओर उसकी प्रवृत्ति हो उठती है—इसी का कथन इसमें है। कुंजविहारी की मानसिक स्थिति का भेद उपस्थित कर दिखाया गया है कि पूजा का सौंदर्य पूजक की मनःस्थिति पर अवलंबित रहता है। 'प्रलय' शीर्षक के अनुरूप प्रलय की कहानी है। प्रलय का चित्रण और मानवचित्त पर पड़नेवाले उसके प्रभाव का कथन ही इसमें बड़ी सुंदरता से किया गया है। उसके भीतर होनेवाले पुरुष और शक्ति के संवाद परिस्थिति के अनुकूल हुए हैं। आदि और अंत का प्रभाव भी साफ उभड़ा है। इस रचना में कल्पना और चित्रविधान का अच्छा योग दिखाई पड़ता है।

संपूर्ण कहानियों का साररूप उपस्थित कर देने पर कुछ बातें उसमें स्पष्टतया देखी जा सकती हैं। दो-तीन कहानियाँ ऐसी हैं जिनमें ऐतिहासिक पूर्वपीठिका रखी गयी है अन्यथा या तो कौटुंबिक प्रसारभूमि को लिया गया है अथवा शुद्ध कल्पना के आधार पर एक छोटा सा इतिवृत्त गढ़ा गया मिलेगा। सब कहानियों में जो एक बात सामान्यतः मिलती है, वह है भाव की व्यंजना। अधिकांश कहानियाँ ऐसी हैं जो यथार्थ के माध्यम से भावाव्यंजन में सहायक हैं। 'प्रलय' और 'पत्थर की पुकार' ऐसी आन्यापदेशिक रचनाएँ भी अपने ढंग की बन गई हैं। थोड़े में कहा जा

सकता है कि ग्राम और कुटुंब के वातावरण से लेकर सुदूर अतीत तक की एक व्यापक दौड़ इन कहानियों में मिलती है। अपनी संपूर्णता से अलंकृत होकर एक-एक भावचित्र इनमें खींचे गए हैं। इस प्रकार भावोत्कर्ष ही इनका ऐकांतिक लक्ष्य मालूम पड़ता है। इन छोटे-छोटे भाव खंडों को चित्त में उतार लेने के उपरांत 'प्रसाद' के सामने अब दो भिन्न मार्ग और पद्धतियाँ खड़ी हुईं। इनमें 'प्रतिध्वनि' वाली पद्धति ही उस समय 'प्रसाद' को आकर्षक प्रतीत हुई औए उन्होंने 'आकाश दीप' की रचना में अधिक समय दिया।

(३)

'छाया' और 'प्रतिध्वनि' में दो भिन्न शैलियों का प्रयोग कर लेने के उपरांत 'प्रसाद' ने भविष्य के लिए अपना मार्ग निर्दिष्ट कर लिया। इतिवृत्त प्रधान और भावात्मक कहानियों की प्रकृति अधिकांशतः पृथक् है। एक में वस्तुविन्यान के माध्यम से भावोत्कर्ष लक्ष्य बनाया जाता है। दूसरे में भी लक्ष्य तो भावोत्कर्ष ही रहता है, पर रहता है, वस्तु-प्रसार विहीन, केवल एक सुदिव्य आसन पर आसीन। उसमें पूर्वपीठिका और भावानुरूप वातावरण की साज-सज्जा ही अलम् रहती है। इस रहस्य को पूर्णतया हृदयंगम किया 'प्रसाद' ने और सर्जना क्षेत्र में उसका दिव्य उद्‌घाटन भी दिखाया। 'आकाश दीप' (१६२६) 'आँधी' (१६३२) और 'इंद्रजाल' (१६३६) लेखक की सर्जना प्रौढ़ता का परिचय देनेवाली कृतियाँ हैं। रचना-कौशल की दृष्टि से इन्हें पृथक्-पृथक् स्तर की रचनाएँ नहीं माना जा सकता है। ये भी रचनाएँ अपने-अपने ढंग से प्रौढ़ कौशल को व्यक्त करती हैं। इसी प्रकार इन कहानियों के वर्गीकरण की बातें भी विशेष तथ्य-

पूर्ण नहीं मालूम पड़तीं। नाना प्रकार के वर्ग विभाजन के लिए 'प्रसाद' में कोई स्थान नहीं है। विषय, शैली, और रचना-पद्धति के आधार पर जिन विद्वान लेखकों ने तरह-तरह के विचार प्रकट किए हैं उनमें तत्वतः कोई विशेष सार नहीं दिखाई पड़ता है।

उक्त तीनों संग्रहों का सामूहिक विचार करने से पहली बात जो सामने आती है वह है कहानियों का विस्तार क्रम। इसमें से कुछ तो बहुत छोटी हैं, चार-पाँच पृष्ठों की जैसे—भिखारिन, बैरागी, ज्योतिष्मती, बेड़ी, विजया और अनबोला। कुछ कहानियाँ अपेक्षाकृत बड़ी हैं—छः पृष्ठों से लेकर बारह पृष्ठों तक, जैसे—ममता, सुनहला साँप, हिमालय का पथिक, प्रतिध्वनि, कला समुद्र-संतरण, बनजारा, चूड़ीवाली, अपराधी, प्रणयचिह्न, रूप की छाया, रमला, बिसाती, मधुआ, घीसू, ग्रामगीत, अमिट, स्मृति, छोटा जादूगर, परिवर्तन, संदेह, भीख में, चित्रमंदिर और विराम चिह्न। कुछ कहानियाँ सामान्यतः पंद्रह पृष्ठों से लेकर इक्कीस पृष्ठों तक हुई हैं जैसे—आकाश दीप, स्वर्ग के खंडहर में, देवदासी, व्रतभंग, नीरा, पुरस्कार, इंद्रजाल, सलीम, नूरी, चित्र-वाले पत्थर और गुंडा। सबसे बड़ी केवल तीन कहानियाँ हैं—'आँधी' (५१ पृष्ठ) 'दासी' (३३ पृष्ठ) और 'सालवती' (३७ पृष्ठ) 'आकाशदीप' में विस्तार क्रम से प्रथम प्रकार की तीन द्वितीय प्रकार की तेरह और तृतीय प्रकार तीन कहानियाँ मिलती हैं। 'आँधी' में प्रथम प्रकार की दो, द्वितीय प्रकार की चार, तृतीय प्रकार की तीन और अंतिम प्रकार की दो कहानियाँ हैं। 'इंद्रजाल में प्रथम प्रकार की एक, द्वितीय प्रकार की छः तृतीय प्रकार की पाँच और अंतिम प्रकार की केवल एक कहानी मिलती है।

इन चार प्रकार के विस्तारों की अपनी अपनी सुन्दरता, उपादेयता और सिद्धियाँ हैं। प्रथम प्रकार में भाव-चित्रों की मनोहर झलक भर मिलती है। किसी एक भाव को आधार देने के अभिप्राय से ही दो-तीन सीढ़ियाँ पूर्वाभास की तरह सजाई जाती हैं, जैसे, 'बेड़ी' में। 'हे भगवान्' भीख मँगवाने के लिए बाप अपने बेटे के पैर में बेड़ी भी डाल सकता है। और वह नटखट फिर भी मुस्कुराता था। संसार तेरी जय हो।' यहाँ दरिद्र जीवन के एक यथार्थ को संवेदनशील रूप में झलका देना ही कहानीकार का लक्ष्य है। इसी तरह 'भिखारिन' में दूसरे प्रकार की एक झलक उपस्थित मिलेगी। वहाँ दरिद्र भिखारिन का स्वाभिमान दिखाया गया है साथ ही संपन्न के व्यवहारगत कल्मष पर व्यंग किया गया है। ऐसी कहानियों में वस्तु के प्रति न तो लेखक का ध्यान रहता और न अध्येता का, प्रतिपाद्य की झलक कितनी उभड़ सकी है यही दोनों पक्ष देखता है। किसी एक तथ्य अथवा वृत्ति की ऐकांतिक व्यंजना ही मुख्य रहती है। व्यंग्य के अनुरूप ही चित्र-विधान भी रहता है 'बेड़ी' में सड़क का और 'भिखारिन' में घाट किनारे के दृश्य लघुप्रसार से रखे गए हैं। इसके अतिरिक्त जो कुछ भी आता निरर्थक हो उठता। इस प्रकार की कहानियों की झाँकी के गुण-धर्म के मेल में समझना चाहिए। विविध भूमियों पर खड़े एक ही व्यक्ति के सैकड़ों 'स्नैप्स' लिए जायँ तो जैसी एकसूत्रता के साथ नानारूपात्मकता दिखाई पड़ेगी उसी तरह अति लघु ये कहानियाँ भी एक ही भाव की विविध भंगिमाएँ उपस्थित करने में योग दे सकती हैं। कुशल कारीगर 'प्रसाद' ने क्षिप्रगति से परिवर्तित होनेवाली भावात्मक वृत्तियों की उत्कर्ष-विधायिनी झलक इनमें बड़ी सफलता से दी है। इस विषय में

यह अवश्य ध्यान में रखना चाहिए कि झाँकी या झलक में स्थायित्व की भावना कम रहती है; हृदय में लघु झंकृति उत्पन्न करना ही लक्ष्य रहता है। कोई प्रभाव कुछ देर तक चित्त और बुद्धि पर छाया रहे अथवा उसे अपने में डुबा सके इसके लिए थोड़ा अधिक विस्तार अपेक्षित होता है।

द्वितीय श्रेणी के विस्तार क्रम की कहानियाँ ही प्रसाद जी ने अधिक लिखी हैं, 'आकाशदीप' में तेरह, 'आँधी' में चार और 'इंद्रजाल' में छः। इनको झांकी से कुछ बढ़कर चीज समझनी चाहिए। इनके भावोत्कर्ष में अपेक्षाकृत अधिक स्थिरता मिलती है। इनका प्रसार भी अपेक्षाकृत कुछ अधिक होने से लेखक को इस बात का अधिक अवसर मिला है कि वह रसोत्पत्ति के लिए आवश्यक उद्दीपन संयोजित कर सके। इस कोटि की कहानियों में एक-से-एक सुंदर गठनवाली रचनाएँ दिखाई पड़ेगीं। विषय के आग्रह के अनुरूप उद्दीपन की सजावट में कहीं प्रकृति का योग लिया गया है और कहीं स्थानीय वातावरण का। प्रथम प्रकार की कहानियों के अच्छे उदाहरण 'समुद्र संतरण' और 'बिसाती' हैं और दूसरे प्रकार में 'मधुआ' अथवा 'विराम चिह्न' रखे जा सकते हैं। नाटक और काव्य-निर्माण के कुशल शिल्पी होने के नाते 'प्रसाद' रंगमंचीय साज-सज्जा की सजीव कल्पना करने में और संवाद की आकर्षक मालिका पिरोने में पारंगत थे। इसलिए प्रथम और द्वितीय विस्तार-क्रमवाली कृतियों में स्वभावतः विशेष अंतर न होने पर भी प्रभाव की अन्विति उपस्थित करने में भेदकता दिखाई पड़ती है। कहानी के अंत में जैसे प्रभाव की समष्टि पहली कहानियों में मिलती है उससे कहीं स्थायी और

बलवत्तर रूप इन दूसरे वर्ग की विस्तारवाली कहानियों में दिखलाई पड़ता है। मूलतः इन दोनों प्रकार में कोई रचना-पाटव संबंधी प्रत्यक्ष अंतर नहीं है पर अधिक विस्तार स्पष्टतः प्रभाव को स्फुटित करने में योग देता मालूम पड़ता है। इसी अधिक विस्तार को उद्दीपन विभाव के द्वारा भर देने से रचना में एक विशेष प्रकार की नूतनता का स्वरूप खिल उठा है।

'समुद्र संतरण' और 'बिसाती' में पूर्वपीठिका का शृंगार एवं अलंकरण अधिक है और संवाद बड़े ही भावुकता में डूबे हुए कराए गए हैं। आरंभ और अंत बड़े ही आकर्षक बना दिए गए हैं। इन विशेषताओं के कारण इन कहानियों में नाटकीय सौंदर्य आ गया है। प्रगीत काव्यों की-सी यही शैली 'प्रसाद' की अपनी और बेजोड़ शैली है। काव्योत्कर्ष की यह परिपाटी न केवल भारतीय वांगमय में बल्कि संसार के समस्त साहित्यों में अद्वितीय सी बन-कर अमर रहेगी। 'बिसाती' में तो संपूर्ण कथानक तीन परिच्छेदों में बाँटा भी गया है पर 'समुद्र संतरण' में तो वैसा भी नहीं किया गया। वहाँ संकलनत्रय का ऐसा रूप सिद्ध मिलता है कि आद्यंत एक धारा सी प्रवाहित हो उठी है। आरंभ (सुंदरी!), चरम सीमा (और तुम प्रपंचक हो—कह कर धीवर बाला ने एक निश्वास ली,) और अंत (धीवर बाला ने हाथ पकड़ कर सुदर्शन को नाव पर खींच लिया। दोनों हँसने लगे। चंद्रमा और जलनिधि भी) के विभाजन का कोई स्पष्ट संकेत नहीं दिया गया। शुद्ध भावात्मक और कल्पनाप्रधान कहानियों का अच्छा प्रतिनिधित्व इन दोनों कहानियों से हो जाता है।

इस कोटि में जो दूसरा प्रकार कहा गया है उसके लिए

उदाहरण रूप में दो कहानियाँ रखी जा सकती है—'मधुआ' और 'विराम चिह्न'। इनमें विस्तार को सोद्देश्य और साभिप्राय बनाने के लिए स्थानीय परिस्थिति योजना को सजीवता प्रदान की गई। 'मधुआ' के आरंभ में शराबी की शराब विषयक एकनिष्ठता एवं तन्मयता का यथार्थ चित्रण बड़े स्वाभाविक ढंग से कराने में चार पृष्ठ खर्च कर दिए गए हैं। यदि यह अंश दुर्बल हो गया होता तो मधुआ के लिए दया दिखाने का सारा महत्व ही दुर्बल हो गया होता और शराबी में परिवर्तन को उभाड़ने का कार्य गड़बड़ में पड़ जाता। इस परिवर्तन के मूल में बैठी शराबी की कोमलवृत्ति के सौंदर्योद्घाटन की बात—जो साध्य-पक्ष है—वही अशक्त हो जाती। इसलिए विस्तार का उपयोग आवश्यक हो गया। इसी तरह 'विराम चिह्न' में परिस्थिति का आरंभिक परिचय देने में—अर्धनग्ना वृद्धा दूकानवाली की द्रारिद्र्यपूर्ण सजावट, ताड़ी से पेट भरे राधे का रूप और उस गरीबी से आक्रांत अछूत बुढ़िया की भगवान के प्रति आस्था समझाने में ही लेखक ने प्रायः एक परिच्छेद ले लिया है। दूसरे परिच्छेद में चरमसीमा (तब भी तू कहती है कि मंदिर में हम-लोग न जायँ ! जायँगे, सब अछूत जायँगे) को तीव्र आवेगमय बनाने का योग खड़ा किया है। इसी सब में विस्तार का औचित्य सिद्ध है और वह अनिवार्य सा मालूम पड़ता है। प्रथम विस्तार-वाली रचनाओं में इस ढंग का विवरणात्मक परिचय देने के फेर में नहीं पड़ा गया है; अतएव वहाँ का विस्तार सर्वथा नियंत्रित और परिमित रहा है।

प्रथम एवं द्वितीय श्रेणी की विस्तारक्रमवाली कहानियाँ विषय की अबाध एकनिष्ठता एवं एकोन्मुखता के विचार से आपस में

मिलाई जा सकती हैं। पाँच और बारह पृष्ठों का अंतर केवल पृष्ठभूमि के अलंकरण और परिस्थिति-बोधन के कारण मिलेगा अन्यथा साध्यस्थापन के आधार पर दोनों की प्रकृति प्रायः एक-सी है। तृतीय प्रकार का जो विस्तार-क्रम है वह वस्तुतः पृथक् हुआ है। उसकी कलाकृति और प्रभाव, अवश्य भिन्न प्रकार का दिखाई पड़ता है। कथाभाग में विस्तार, वस्तुविन्यास में कौशल और प्रभावान्विति में आत्मसात् करने की क्षमता, इन रचनाओं में स्पष्ट देखी जा सकती है। इस वर्ग की सर्वाधिक प्रिय कहानियों में 'आकाश दीप', 'सलीम', 'गुंडा' और 'पुरस्कार' हैं। ऐसा मालूम पड़ता है कि इसी विस्तारक्रम में आकर मुख्यतः 'प्रसाद' की प्रतिभा को पूर्ण विकसित होने का अवसर मिला है; उनकी प्रबंध-पटुता भी अधिक खुली है, उनके कवि मानस को पूर्णतया लहराने का सुयोग मिला है और पूर्व की झाँकी-पद्धति को यहीं पहुँच कर संश्लिष्ट चित्र-विधान का सौंदर्य प्राप्त हो सका है। अतः प्रसाद का प्रसादत्व यहीं आकर सिद्ध हुआ है।

इस वग की कहानियों की उन विशेषताओं का विचार आवश्यक है जिनके कारण विस्तार-प्रसार आवश्यक हो गया है अथवा जिनके कारण इन्हें पूर्व के वर्गों से पृथक् करना तर्क-संगत मालूम पड़ता है। इनकी प्रधान भेदकता तो प्रासंगिक और सहयोगी कथाएँ हैं। आधिकारिक कथा को अविच्छिन्न रखते हुए भी इनमें यथास्थान आवश्यकतानुसार कथा की शाखाओं-प्रशाखाओं को भी उभड़ने और अपना स्वतंत्र प्रभाव उत्पन्न करने का स्थान दिया गया है। अवश्य ही आगे चलकर ये प्रासंगिक प्रभाव आधिकारिक कथा को ही बल प्रदान करते दिखाए गए हैं। इन शाखाओं को फैलाने का एक निश्चित उद्देश्य यह भी रहता है

कि नायक-नायिका की मुख्य चित्तवृत्ति अथवा क्रिया-व्यापार में चमत्कार उत्पन्न करें अथवा कुछ चरित्र की नूतन भंगिमाओं का उद्घाटन करके चरित्र के निखार में सहायक हों। 'गुण्डा' के प्रधान चारित्रिक गठन में चार चाँद लगाने के अभिप्राय से ही दुलारी-वाला प्रसंग अथवा बोधीसिंह की बारातवाला प्रसंग भी जोड़ दिया गया है। इसी तरह 'सलीम' में एक भूमि वह है जिसमें प्रेमा बालकों को खीर बाँटते हुए दया और स्नेह की मूर्ति बनी सामने आती है। आगे चलकर वह दूसरी भूमि पर दिखाई पड़ती है जिस समय नंदराम के स्वागत के लिए उल्लास और प्रेम से भरी दौड़ती है। फिर उसका रणचंडी का रूप सामने आता है। अंत में प्रभावान्विति को बटोरती हुई पुनः वह एकबार नारी सुलभ कोमलता से आप्लुत कहती आती है—'सलीम! तुम्हारे घर पर कोई और नहीं है, तो वहाँ जाकर क्या करोगे? यहीं पड़े रहो।' यहाँ प्रभावान्विति का अभिप्राय यह है कि कहानी का प्रतिपाद्य है—'मनुष्यता का एक पक्ष वह भी है जहाँ वर्ण, धर्म और देश को भूलकर मनुष्य मनुष्य के लिए प्यार करता है—और इसकी सिद्धि प्रेमा के उक्त वचनों में मिलती है। इस वर्ग की कहानियों में या तो एक से अधिक प्रसंगों का प्रयोग कथा विस्तार कर देता है अथवा एक ही व्यक्तित्व और भाव को विविध भूमियों में रखकर दिखाने के कारण ऐसा हो जाता है।

इसी प्रकार की स्थिति 'पुरस्कार' शीर्षक रचना में भी मिलती है पर कुछ असमान रूप में। अन्य बातें तो एक सी हैं पर एक बात सर्वथा नई है। एक ही व्यक्ति में एक ही भाव की दो विरोधी भंगिमाओं का योग वहाँ उपस्थित मिलता है। इस आधार पर यह कहानी 'आकाश दीप' से बिलकुल मिलती-जुलती है।

दोनों में कुल गौरव के प्रेम अथवा पितृप्रेम और प्रेमी के प्रति अनुराग में विरोध उपस्थित किया गया है। दोनों को ६-७ परिच्छेदों में विभक्त किया गया है। 'आकाश दीप' में पद्धति नाटकीय मिलती है और 'पुरस्कार' में कथात्मकता अधिक है। पर इस कथात्मकता में नाटकीय गुण-धर्म संनिहित हैं; क्योंकि 'पुरस्कार' के सभी परिच्छेदों का टेकभार अथवा सम मधूलिका का ही व्यक्तित्व है। इस भाव-संघर्ष के अतिरिक्त दोनों कहानियों की नायिकाओं को विभिन्न परिस्थितियों में डाला गया है। एक ही भाव की संयोजक विविध भूमियों के निरूपण के कारण विस्तार-क्रम प्रसरित हो गया है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि इस तृतीय वर्ग की विस्तार-क्रमवाली रचनाओं की भेदकता इसी में है कि इन कहानियों का कथानक अपने भीतर भावों का द्वन्द्व अथवा प्रासंगिक इतिवृत्तों का संयोग लिए रहता है। ये बातें छोटी कहानियों में प्रायः नहीं दिखाई पड़तीं। विषय प्रसार के अनुरूप ही दोनों में विस्तार भी आनुपातिक हो उठता है। पहले दोनों प्रकारों की तुलना में इन कहानियों की प्रभावान्विति को अधिक बल संचय का अवसर मिलता है और इसीलिए इनकी प्रभविष्णुता भी कहीं अधिक आंतरिक और स्थायी होती है।

चतुर्थ विस्तारक्रम वाली कहानियाँ केवल तीन ही हैं—'आँधी' (५१ पृ०) 'दासी' (३३ पृ०) और 'सालवती' (३७ पृ०)। अपेक्षाकृत इनकी संख्या-न्यूनता इस बात को प्रकट करती है कि इस विस्तार को 'प्रसाद' अधिक स्वीकार नहीं करते थे। विस्तार की सीमा पर आकर कवि का प्रगीततत्व कुछ बिखरा सा दिखाई पड़ता है। और उसके अनुबंध में कृतिकार को विशेष सुख नहीं मिलता। 'आंधी' और 'दासी' में इस विस्तार का प्रयोग कर

लेने पर 'सालवती' में उसका निखार उत्पन्न हुआ। इस वर्ग की सर्वोत्तम रचना वह है भी; क्योंकि तारतमिक ढंग से देखने पर ऐसा मालूम पड़ता है कि अन्य दो की अपेक्षा इसमें कथानक का संघटन अधिक कौशलपूर्ण और सफल है। यों तो तृतीय वर्ग एवं चतुर्थ वर्ग में सामान्यतः प्रकृतिगत कोई विशेष भेद नहीं है पर पार्थक्य विधायक भेदकता के लिए पर्याप्त भूमि भी है। इस वर्ग की अपनी मौलिकता प्रासंगिक कथा का विस्तारगामी स्वरूप है। तृतीय वर्ग में आनेवाली प्रासंगिकता यदि प्रकरी रूप की होती है तो इस वर्ग की प्रासंगिकता पताका रूप की—विस्तार के आधार पर। अन्य साज-सज्जाएँ और अलंकरण तो पूर्ववत् ही यहाँ भी मिलते हैं।

'आँधी' में लैला और रामेश्वर के साथ आरंभ से ही श्रीनाथ और प्रज्ञासारथी का योग चल पड़ता है। सारे घटनाचक्रों में घुले-मिले वे सभी चलते हैं—अपने-अपने ढंग से और अपनी सीमा निर्धारित करते हुए पर कथा की आधारिकता अविछिन्न सी बनी रहती है। 'दासी' में भी यही स्थिति दिखाई पड़ती है। फिरोजा और नियाल्तगीत के साथ नलराज और ईरावती की प्रासंगिकता पताका रूप की बनी रहती हैं और आदि से अंत तक एक-रस घुली-मिली चलती है। दो कथाओं का ऐसा सहयोगी स्वरूप इस तृतीय वर्ग की विस्तारवाली रचनाओं में प्रायः कहीं न मिलेगा। इसी तरह 'सालवती' में भी सालवती के प्रसंग में आठों दार्शनिक कुमारों का योग है वह अंत में आनेवाली आठों वेश्याओं के लिए अनिवार्यतः उपादेय बनाया गया है। वस्तुतः इस कहानी में दोनों कथा की धाराएँ इतने कौशल से संपृक्त हो उठी हैं कि पूर्व की दोनों कहानियों से इसमें भिन्नता उत्पन्न हो जाती है। कथा-धारा

की ऐक्यविधायक प्रवृत्ति ही इसमें सौंदर्य का कारण बन गई है। इसीलिए 'आँधी' और 'दासी' प्रयोगिक रचनाएँ मालूम पड़ती हैं और 'सालवती' उत्तमोत्तम कृतियों में शीर्षस्थानीय मानी जायगी। 'सालवती' में प्रसाद की प्रतिभा पूर्णतया खिलकर रस की पूर्णता का कारण बन गई है। बड़ी कहानियों के कथा के क्रमिक संयोजन की पद्धति अर्थात् वस्तुविन्यास बड़ा कौशलपूर्ण मिलता है। जिनमें परिच्छेदों में कहानी विभक्त है वे सभी आपस में पूर्णतया संतुलित हैं, इस अर्थ में कि कारण-कार्य-परिणाम अथवा आरंभ, चरम उत्कर्ष और अन्त क्रम से सजाए गए हैं। सालवती में जिस स्वाभिमान की मनोवैज्ञानिक स्थापना की गई आरंभ में—'ठीक ! मैं अनुग्रह नहीं चाहती। अनुग्रह लेने में मनुष्य कृतज्ञ होता है। कृतज्ञता परतंत्र बनाती है'—उसीका चरम उत्कर्ष और विहार उस स्थल पर दिखाई पड़ता है जहाँ सालवती ने आनंद से अपने लिए सौंदर्य-प्रसाधन की निरर्थकता का उद्‌घोष करती हुई कहती है—'मुझे कुछ नहीं चाहिए। मैं यो ही चलूंगी। और कुल पुत्रों के निर्णय की मैं भी परीक्षा करूँगी। कहीं वे भ्रम में तो नहीं हैं। इसके उपरांत अंत में आकर वही स्वाभिमान की दीप्ति ने उसे कहने के लिए प्रेरित किया—'यदि संघ प्रसन्न हो, तो मुझे आज्ञा दे। मेरी यह प्रतिज्ञा स्वीकार करे कि आज से कोई श्री वैशाली राष्ट्र में वेश्या न होगी।' तदुपरांत फिर तो कार्यगत उसी की सिद्धि है। इसी पद्धति से चलकर यदि रस की सिद्धि देखनी हो तो शृंगार-रति का उदय वहीं हो जाता है जहाँ अभयकुमार के एकावली-उपहार को अस्वीकृत करती हुई भी सालवती उसके व्यक्तित्व की ओर आकृष्ट होती है। इसका उद्दीप्त स्वरूप वहाँ ध्वनित होता है जहाँ वह स्वरचित मालिका लक्ष्य कर अभयकुमार के भाले पर

फेंकती है। आगे चलकर सिद्धि का स्थल वहाँ आता है जहाँ वह आठ वर्षों के अनंतर पुनः एक बार अपने को विजयिनी पाती है और अपने पुत्र को अभयकुमार के साथ देखती है। जिस रूप में भी विचार किया जाय वस्तुविन्यास का कौशलपूर्ण गुंफन इस कहानी में अवश्य मिलेगा और प्रासंगिक एवं आधिकारिक कथा आपस में एकरस मिली हुई दिखलाई पड़ेगी। इसलिए यह भी मिलेगा कि 'आँधी' और 'दासी' की अपेक्षा इस कहानी में प्रभावान्विति की स्थापना अधिक स्फुटित है।

(४)

वस्तुविन्यास—उक्त वर्गीकरण के ही आधार पर 'प्रसाद' के वस्तु-गुंफन की कला का भी विवेचन करना चाहिए। साढ़े तीन से लेकर पाँच पृष्ठों तक की कहानियों में इसका रूप सीधा और सरल दिखलाई पड़ता है। किसी विशेष स्थिति में कोई विषय आरंभ होता है और तीव्र और क्षिप्र गति से उत्कर्षोन्मुख होकर चरमसीमा की ओर दौड़ता है। उसकी अति संवेदनशील चरम सीमा पर ही कहानी का अंत हो जाता है। ऐसी कहानियों में एक झंकार उत्पन्न करना ही लक्ष्य रहता है, अतएव कथानक में किसी प्रकार का क्रमिक उतार-चढ़ाव अभीप्सित नहीं रहता। वह बिनाकिसी वक्रता के सीधा—एक झटके में नीचे से ऊपर उठता है और उसकी गति के साथ ही लहराती हुई प्रभावान्विति खड़ी हो जाती है। 'वैरागी', 'भिखारिन' इत्यादि रचनाओं में इस प्रकार के कथानक का रूप देखा जा सकता है। इसके उपरांत फिर तो जिस क्रम से कथानक की प्रसार भूमि विस्तृत होती जाती है उसके गठन की सुंदरता भी स्पष्टतया सुश्रृंखलित बनती जाती है।

द्वितीय वर्ग की कृतियों में कथानक-तत्व पूरा रूप धारण कर

लेता है। वहाँ आरंभ, चरमसीमा और पर्यवसान का क्रम स्पष्ट हो गया है। 'समुद्र संतरण', 'बिसाती', 'घीसू', 'मधुआ' इत्यादि कृतियों में इन त्रिविंदुओं का अच्छा स्थापन दिखाई पड़ता है। विषय-प्रवेश के ठीक उपरांत प्रथम विंदु की स्थापना हो जाती है, जैसे—'घीसू' में—'बिन्दो! इस दुनिया में मुझसे अधिक कोई न घिसा होगा, इसीलिए तो मेरे माता-पिता ने घीसू नाम रखा था।' विंदो की हँसी आँखों में लौट जाती। वह एक दबी हुई साँस लेकर दशाश्वमेध के तरकारी बाजार में चली जाती है। इसी तरह 'मधुआ' में भी परिचयात्मक विषय के ठीक बाद ही प्रथम विंदु का दर्शन होता है—'शराबी' ने उसके छोटे से सुंदर गोरे मुख को देखा। आँसू की बूँदें ढुलक रही थीं। बड़े दुलार से उसका मुँह पोंछते हुए उसे लेकर वह फाटक के बाहर चला आया।' इन्हीं दोनों धाराओं का क्रम से चरमविंदु इस प्रकार आता है—(१) 'सड़क पर बिजली के उजाले में रोती हुई विंदो से बात करने में घीसू का दम घुटने लगा। उसने कहा—तो चलो।' (२) 'आह! कहाँ बताऊँ इसे कि चला जाय। कह दूँ कि भाड़ में जा, किंतु वह आज तक दुःख की भट्टी में जलता ही तो रहा है।' इसके उपरांत दोनों कहानियों का पर्यवसान तो स्पष्ट ही है। इस वर्ग की कहानियों के कथानक की दो विशेषताएँ हैं—त्रिविंदुओं का स्पष्ट संघटन एवं तीनों के बीच में लघु एवं तीव्र गतिशीलता।

वस्तुविन्यास के विचार से तृतीय एवं चतुर्थ वर्ग की कहानियों में कोई सैद्धांतिक अंतर नहीं है। सबसे बड़ी तीनों कहानियों में कथानक का विस्तार-क्रम अपेक्षाकृत कुछ अधिक मंथर और विवरणात्मक दिखाई पड़ता है। 'सालवती' और 'पुरस्कार'

के रूप में इस तथ्य को भलीभाँति देखा जा सकता है। आरंभ के परिचयवाले स्थल दोनों के एक से हैं। एक में सालवती के चरित्र की मूलभित्ति जो स्वाभिमान है उसी को मनोवैज्ञानिक विवरण के साथ उपस्थित किया गया है और दूसरी में मधूलिका की एक-मात्र संपत्ति को राजकीय प्रणाली की लपेट में ले लेने से जो आंतरिक स्वाभिमान उसके भीतर जगता है उसी का चित्रात्मक कथन हुआ है। दोनों की चरम सीमा का अपने ढंग से निखार हुआ है और अंत में दोनों का पर्यवसान भी एक-सा ही आत्म-समर्पणपूर्ण संघटित हो गया है। अंतर जो कुछ मिलेगा वह स्थितियों के आरोह-अवरोह के क्रम में है। 'सालवती' में यह अंश अपेक्षाकृत अधिक सुस्थिर और प्रसारमय है और 'पुरस्कार' का यही अंश कुछ लघु और तीव्रगामी है। इसीलिए पहली में कुछ पृष्ठ अधिक हो गए हैं अन्यथा वस्तु-गुंफन की प्रणाली में विशेष भेद नहीं है। इस प्रकार यदि संक्षेप में 'प्रसाद' के वस्तु-विधान की विवेचना का सारांश देना हो तो कहा जा सकता है कि छोटी-बड़ी सभी कहानियों के एक क्रम से विषय का आरंभिक परिचय, कथा-विकास के सूत्रों का संकेत, अधिक से अधिक भावोत्कर्ष की स्थिति का चित्रण और निगतिपूर्ण पर्यवसान प्रायः प्राप्त होता है। इसी पद्धति पर चलकर आवश्यकतानुसार इन बड़ी कहानियों में नाटक की विभिन्न कार्यावस्थाओं का भी विचार किया जा सकता है। नाट्य-रचना में विशेष पटु होने के कारण 'प्रसाद' के वस्तुविन्यास में तर्क और बुद्धिसंगत उतार-चढ़ाव का रूप कहीं भी देखा जा सकता है।

उपादान संग्रह—साहित्य का विषय जीवन और जगत् से ही संबद्ध होता है। जीवन और जगत् के व्यापक-विस्तार के भीतर

से ही साहित्य प्रेरणा ग्रहण करता है। अपनी अनुभूति, कल्पना और व्यवहार-ज्ञान से उसी प्रेरणा को वह भाषा के माध्यम से पुनः चित्राकार रूप में उपस्थित करता है। इसी अर्थ में अरिस्टाटल की 'अनुकृति' काम करती है और इसी अर्थ में भारतीय नाटय-मीमांसा स्वीकार करती है—'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्' अथवा 'रूपारोपात्तुरूपकम्'। अब प्रश्न यह है कि 'प्रसाद' ने अपनी कहानियों के लिए जीवन और जगत् के किस अंग को विषय बनाया है अथवा उनमें प्रधान प्रतिपाद्य किस प्रकार के दिखाई पड़ते हैं। उत्तर रूप में 'आकाशदीप' 'आँधी' और 'इंद्रजाल' की रचनाओं का विषय-विश्लेषण किया जा सकता है। पहले संग्रह में केवल 'प्रतिध्वनि' और 'कला' को छोड़कर अन्य सभी कहानियाँ प्रेम-विषयक हैं। 'आँधी' में सभी कहानियाँ प्रेममूलक हैं। 'इंद्रजाल' में भी 'विराम-चिह्न' को छोड़कर अन्य कृतियों के मूल में किसी न किसी रूप में प्रेम की ही विवृति मिलती है। इस प्रकार देखा जाय तो 'प्रसाद' की सभी कहानियों में प्रेम नाम की वृत्ति का ही कोई न कोई रूपभेद प्रभान्विति का कारण बना मिलेगा। एक ही भाव की इतनी अधिक भंगिमाओं का चित्रण शायद ही किसी हिंदी लेखक ने किया हो। यदि इस रूपवैविध्य की पूरी परीक्षा की जाय तो सारा अनुशीलन ही मधुर भावनाओं का पूंजीभूत रूप हो उठेगा। इस प्रकार 'प्रसाद' की 'मधुचर्या' की शिकायत यहाँ भी उठाई जा सकती है। पर ऐसी 'मधुचर्या' किसी भी साहित्य अथवा साहित्य-निर्माता के लिए स्पृहणीय होनी चाहिए।

'मधुचर्या' के अतिरेक का परिहार भी प्रसाद में मिलता है। सर्वत्र प्रेम सदैव सम एवं अनुकूल ही नहीं दिखाया गया है अथवा केवल काल्पनिक भावुकता की क्रीड़ा-स्थली ही नहीं बनाया गया

है—'समुद्र संतरण' की तरह। जहाँ 'पुरस्कार' में प्रेम की लहर है वहाँ उसमें आंतरिक संघर्ष को भी सजाया गया है। इसी प्रकार के संघर्ष का शांत में पर्यवसित होनेवाला रूप 'आकाश-दीप' में मुखरित है। 'स्वर्ग के खड़हर' में प्रेम की यदि सरस ध्वनि है तो 'बिसाती' में वही प्रेम मूक बलिदान का रूप धारण कर लेता है; 'गुंडा' में वही दिव्य उत्सर्ग का प्रेरक बना गया है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि 'प्रसाद' की मूल प्रेरक वृत्ति 'प्रेम' थी। यों तो उनमें अछूत के प्रति करुणा (विरामचिह्न), सामान्य जीवन के प्रति आस्था (संदेह), दारिद्रय में भी असीम सुंदरता (ममता) और 'शराबी' की कुरूपता में भी त्याग की प्रेरकता को चित्रित करने की शक्ति पर्याप्त मात्रा में दिखाई पड़ी है।

चरित्रांकन—कहानी में चरित्र-चित्रण भी भावोत्कर्ष का अंग बनकर आता है। उसके स्वतंत्र प्रयोग के लिए यह भूमि ठीक नहीं होती। यहाँ चरित्र के किसी पक्ष विशेष को इस ढंग से सजाया जाता है कि उससे कोई न कोई भाव, तथ्य अथवा अनु-भूति उद्घाटित हो सके। चरित्रगत एकांगिता कहानी के प्रतिपाद्यको अधिक उभाड़कर आलोकमय बनाने में सहायक होती है। 'प्रसाद' में इस तत्व का भी अच्छा परिष्कार दिखाई पड़ता है। प्रायः सभी कहानियों में भावोत्कर्ष चरित्र-सौंदर्य के माध्यम से ही संपन्न होता दिखाया गया है; कहीं पर तो इसका स्वतंत्र रूप भी अत्यंत प्रभावशाली मिलता है। 'गुंडा' में आन पर बलिदान होने की अलौ-किक दृढ़ता के साथ-साथ विरक्ति, निस्पृहता, निर्भीकता आदि व्यक्तित्व को पूर्ण बनानेवाली सभी विशेषताएँ दिखाई पड़ती हैं। 'सलीम' की प्रेमा और नंदराम में जहाँ एक ओर हिंदू चरित्र की उदारता ठीक से संयोजित की गई है वहीं सलीम की आंतरिक

कट्टरता भी पूरी-पूरी उभाड़ी गई है। 'मालवती' में भारतीयता से संवलित ऊर्जस्विता और गर्वानुभूति की प्रखरता के भीतर कोमल नारी हृदय की अच्छी झाँकी मिलती है। सामान्यतः प्रसाद का चरित्र-चित्रण भाव-चित्रण के साथ ऐसा घुला-मिला चलता है कि उसका स्वतंत्र स्वरूप अलग से देखा नहीं जा सकता।

संवाद—'प्रसाद' की कहानियों में संवाद बड़े ही आकर्षक, वैदग्ध्यपूर्ण, वस्तु को अग्रसर करनेवाले, और पात्रों को व्यक्तित्व प्रदान करनेवाले मिलते हैं। 'आकाशदीप' में संवाद-सौंदर्य इतना प्रगाढ़ हो गया है कि उसके पढ़ने में नाटक-सा आनंद आता है। यदि इनका वर्गीकरण किया जाय तो 'प्रसाद' में साधारणतः तीन रूप के संवाद दिखाई पड़ेंगे—नाटकीय, भावात्मक, और व्यावहारिक। मुख्यतः नाटकीय संवाद कहानियों के आरंभ अथवा अंत में मिलते हैं, जैसे—'आकाशदीप' का आरंभ और 'अपराधी' का अंत अथवा 'चूड़ीवाली' का आद्यंत—दोनों। भावात्मक पद्धति के संवाद तो कहानियों में प्रायः सर्वत्र ही मिलते हैं पर विशेष रूप से 'समुद्र 'संतरण' 'हिमालय का पथिक' अथवा 'स्वर्ग के खंडहर में देखे जा सकते हैं। व्यावहारिक संवादों का रूप भी बहुत मिलता है। 'मधुआ' के आरंभिक अंश में अथवा 'नूरी', 'आँधी' और 'प्रणय-चिह्न' में इसके अच्छे उदाहरण मिलेंगे। विविध प्रकार के संवादों का प्रसंगानुसार प्रयोग करके वस्तुस्थिति में विशेष प्रकार का चमत्कार पैदा कर देना 'प्रसाद' की प्रमुख विशेषता है। इन संवादों से 'प्रसाद' ने पात्रों की मनःस्थिति का निरूपण तो किया ही है साथ ही मनः स्थिति के अनुकूल संवादों में परिवर्तन भी करते गए हैं। 'पुरस्कार' कहानी में दोनों तरह की प्रवृत्ति देखी जा सकती है।

आदि-अंत—इस विषय में 'प्रसाद' की अभिरुचि आरंभिक काल से ही गठित होने लगी थी। 'छाया' और 'प्रतिध्वनि' में आरंभ को नाटकीय आकर्षण से युक्त बनाने की कला 'प्रसाद' समझने लगे थे। आगे चलकर कहानी के आरंभ को आकर्षक बनाने के लिए उन्होंने मुख्यतः दो पद्धतियों को स्थिरतापूर्वक ग्रहण किया। दोनों में नाटकीय तत्व की प्रधानता है—कुतूहल और वैदग्ध्य के मुखरित संवादों से ही परिस्थिति एवं पात्रों का परिचय कराना—एक; दूसरे—स्थान अथवा पूर्वपीठिका की मनोरमता का काव्यात्मक विवरण देते हुए विषय का प्रवेश कराना। 'आकाशदीप' अथवा 'चूड़ीवाली' में पहला रूप है और 'सालवती' 'पुरस्कार' अथवा 'स्वर्ग के खंडहर' में दूसरे प्रकार का। 'अंत' करने की प्रणाली भी 'प्रसाद' की अपनी विशेषता प्रकट करती है। इस विषय की भी कलात्मक जागरूकता 'प्रसाद' में आरंभ से ही दिखाई पड़ने लगी थी। प्रायः तीन ढंगों से समाप्त होती मिलेंगी—सभी कहानियाँ 'प्रसाद' की। सुस्पष्ट पर्यवसान का चित्र-उपस्थित करनेवाली कहानियाँ, जैसे—पुरस्कार, नूरी, आँधी इत्यादि; नाटकीय दृश्यविधान सामने लानेवाली कहानियाँ, जैसे—'आकाशदीप', 'बैरागी', 'ज्योतिष्मती', 'गुंडा' 'समुद्र-संतरण' इत्यादि और अनुमानाश्रित, जैसे—बिसाती। यह अंतिम प्रकार चाहे कुछ कम हो परंतु सौंदर्य एवं प्रभाव के विचार से सर्वोत्तम है। अंत में पहुँच कर यह कहानी आत्मसात करती हुई सहृदय पाठक के चित्त को विचारमग्न करती पाई जाती है। प्रभावान्वित यहाँ आकर मधुर-सी झंकार में चित्त के कोमलांश को पूर्णतया डुबो देने में सफल होती है और यही काव्य का चरम साध्य है।

अंत में आकर यदि हम 'प्रसाद' की समस्त कहानियों का

सारभूत सौंदर्य थोड़े में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि उनमें कहानी 'कला' की वस्तु बन गई—संवेदनशीलता के विचार से भी और रचनात्मक प्रक्रिया के आधार पर भी। जितने भी तत्त्व और अंग हैं कहानी के, उन सबका पूर्ण परिष्कार 'प्रसाद' में दिखाई पड़ता है। उन्होंने हृदय को ही झंकृत करने की चेष्टा अधिक की है; मस्तिष्क को उद्‌बुद्ध करने की ओर अधिक नहीं बढ़े और यही उनकी प्रकृति के सर्वथा अनुकूल था भी।

———

जन्म] प्रेमचंद [निधन
१९३७] [१९९३

प्रेमचंद

१. प्रेमचंद का बीजभाव
२. प्रेमचंद की कुछ कहानियाँ
३. गोदान

१

प्रेमचंद का बीजभाव

प्रत्येक साहित्य में समय-समय पर ऐसे लेखक और कवि हो गए हैं जिन्होंने अपनी रचनाओं में तत्कालीन सामाजिक प्रवृत्तियों, राष्ट्रिय भावनाओं एवं सदाचार का व्यापक चित्रण किया है। समाज के विभिन्न अवयवों की कालविशेष में कैसी परिस्थिति थी, राजनीतिक क्षेत्र में किस प्रकार अनेक मानसिक विचारों के घात-प्रतिघात चल रहे थे और शासक-शासित का कैसा संबंध था, और उस समय के व्यष्टि तथा समष्टि के धार्मिक आचरण में किन बाह्य एवं आभ्यंतरिक प्रवृत्तियों का कैसा प्रभाव पड़ रहा था—इनका विस्तृत परिचय उनकी कृतियों से प्राप्त होता है।

स्वर्गीय मुंशी प्रेमचंदजी भी इसी प्रकार के विशिष्ट लेखकों की कोटि में थे। उन्होंने अपने रचना-विस्तार में एकरस होकर सामाजिक, राष्ट्रिय एवं धार्मिक परिस्थितियों का मार्मिक चित्रण किया है। वे वर्तमान काल के सच्चे और सर्वोत्तम प्रतिनिधि थे। कालांतर में यदि इस समय का इतिहास लुप्त हो जाय और इनकी रचनाएँ बची रह सकें तो उन्हीं के आधार पर विचारशील निर्णायक देश की सामाजिक जाग्रति का व्यापक और स्पष्ट आभास प्राप्त कर सकता है। प्रेमचंदजी ने अपने उपन्यासों और कहानियों के कथा-प्रवाह में समयानुसार—स्थान-स्थान पर

भारतीय समाज के मानसिक चिंतन तथा व्यावहारिक क्रिया-कलाप का यथार्थ चित्रण किया है। इन चित्रों के प्रमाण का योग लेकर कोई भी उनके व्यापक अनुभव और परिपक्व बुद्धि-बल का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। सामाजिक प्रवृत्तियों के प्रवाह और परिवर्तन के मूल में किस समय कैसी भावना काम करती है और उसका परिणाम तत्कालीन व्यवस्था पर कैसा पड़ता है, इसका ज्ञान प्रेमचंदजी को पूरा-पूरा था।

उनके समकालीन भारतवर्ष में शासक-शासित की स्वच्छंद प्रवृत्ति अविश्वासपूर्ण एवं कलुषित दिखाई पड़ती है। राजा और प्रजा के बीच व्यापक आंदोलन हो रहे हैं और राष्ट्रिय जाग्रति दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ती जा रही है। जमींदारों और धनिकों में अपने समीप भविष्य के प्रति आशंका उत्पन्न होने लगी है। वे समझते हैं कि अर्थशोषण की पक्षपात-पूर्ण नीति भविष्य में भयंकर उपद्रव और विरोध खड़ा करेगी। कृषकों और दुर्बल धनहीनों के संगठन का महत्व वे समझने लगे हैं। इधर असहाय-पक्ष भी यह समझने लगा है कि हमने बहुत सहन किया है अब विरोध और संगठन की परमावश्यकता है। दूसरी ओर मिल-मालिकों और मजदूरों का संघर्ष नित्य वृद्धि पाता जा रहा है। परस्पर अविश्वास की मात्रा निरंतर बढ़ रही है। इस प्रकार धनिक-श्रमिक, राजा-प्रजा एवं भूपति-कृषक—सभी वर्गों में असंतोष, अविश्वास और स्वार्थ बढ़ने के कारण राष्ट्र में व्यापक आंदोलन हो रहे हैं; धन-जन की क्षति बढ़ रही है और सर्वत्र अशांति दिखाई पड़ती है। राजनीतिक क्षेत्र की भयावह परिस्थिति का ज्ञान प्रेमचंदजी को पूर्ण रूप से था। 'रंगभूमि', 'कर्मभूमि', 'गोदान' प्रभृति उपन्यासों में उन्होंने इसके सुंदर, प्रभावशाली और

सर्वथा यथार्थ चित्र खींचे हैं। अन्याय और अत्याचार के विरोध की भावना धीरे-धीरे जनसाधारण में बढ़ रही है। अब शासित पक्ष किस प्रकार भय और शक्ति-प्रदर्शन से निर्भय होता जा रहा है और शासक वर्ग भी शासित के संगठन को देखकर भीतर-भीतर सशंक रहता है, इसका चित्रण भी उन्होंने अनेक प्रकार से किया है। इसी प्रकार प्रेमचंदजी में समयानुसार पुलिस की दुर्बलताओं और उसके निरर्थक कठोर व्यवहार, घूसखोरी, उत्पीड़न-प्रवृत्ति, फौजी सिपाहियों की दुर्बुद्धिपूर्ण उद्दंडता आदि अनेक विषयों के अनुभवपूर्ण विवरण स्थान-स्थान पर मिलते हैं।

कौटुंबिक और सामाजिक परिस्थितियों तथा विचार-प्रवृत्तियों का निदर्शन भी प्रेमचंदजी ने प्रकृत रूप में किया है। 'सेवा-सदन' 'गबन', 'गोदान' इत्यादि उपन्यासों और अनेक कहानियों में उन्होंने वर्तमान हिंदू-समाज के यथार्थ, अनुभूतिपूर्ण और निर्मल चित्र खींचे हैं। नाना विषम परिस्थितियों से आपूर्ण हमारा कौटुंबिक जीवन कितना कष्टमय है, किस प्रकार मान-मर्यादा के परिपालन में हम अपने धनधान्य तथा जीवन तक निछावर कर देते हैं, दान-दहेज और वर्तमान वैवाहिक कुरीतियों के कारण हमारे जीवन में कितनी विषमताएँ उपस्थित हो जाती हैं, विधवाओं की हिंदू-समाज में कितनी दुर्दशा तथा अवमानना है, हमारे घरों में नवीनता और प्राचीनता का कैसा निरंतर द्वंद्व चला करता है, अपनी सामाजिक रूढ़ियों के खंडन - मंडन में हम कैसे व्यस्त हैं, समाज में आत्म-प्रवंचना का विस्तार कितनी शीघ्रता से बढ़ रहा है—इत्यादि विषयों का विवरण सभी स्थानों पर मिलता है। सामाजिक संस्थाओं का नेतृत्व और नियंत्रण कुरुचि-पूर्ण, उत्साहहीन, समाजभीरु, स्वार्थी और प्रवंचकों के

द्वारा होता है। कहीं-कहीं सौ में एक चरित्रवान् व्यक्ति भी मिल जाते हैं। प्रायः म्यूनिसिपैलिटी और अनाथालयों ऐसी सामाजिक संस्थाओं में अव्यवस्था दिखाई पड़ती है। प्रेमचंदजी ने हमारे समाज के वाग्वीरों पर अच्छे--पर सच्चे आक्षेप किए हैं। उन्होंने स्थान-स्थान पर समाज के दुर्बल पक्ष की तीव्र आलोचना भी की है, उसकी समस्याओं की विषमता का चित्रण भी किया है तथा सुधार के आधारों का अनुमान भी लगाया है।

प्रेमचंद की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता है--भारतीय संस्कृति का प्रतिपादन। इसके साथ ही वे मर्यादा और आदर्शवाद की स्थापना में भी दत्तचित्त थे, क्योंकि उनका अटल विश्वास था कि किसी समाज और राष्ट्र की उन्नति तभी हो सकती है जब वह अपनी संस्कृति, सदाचार एवं आदर्श को अपनाने की सदैव चेष्टा करता रहे। इस विषय में--'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः' ही उनका मूल मंत्र था। इसी का विस्तारपूर्वक चित्रण उन्होंने अपनी कहानियों तथा अपने उपन्यासों में किया है। वर्तमान भारतवर्ष में पूर्वी और पश्चिमी संस्कृतियों का संघर्ष चल रहा है। इस संघर्ष में हम बारबार, बाह्य प्रलोभनों की तड़क-भड़क से आपूर्ण पश्चिमी-सभ्यता की ओर लालायित होकर बढ़ते हैं, परंतु उसकी अनुपयुक्तता और खोखलापन देखकर संकुचित हो जाते हैं। उसके असत् आडंबर हमें खींचते हैं और हम अपनापन त्याग कर उनके आकर्षण में पड़ जाते हैं। इसका प्रधान कारण यह है कि हम अपने को हेय समझते हैं और अपनी संस्कृति, अपने आचार-विचार, अपनी रीति-नीति, अपने खान-पान, रहन-सहन, धर्म-आदर्श इत्यादि पर विचार करने के पूर्व ही उसे समय के प्रतिकूल और अमंगलकारी मान लेते हैं।

प्रेमचंद का यह विश्वास था कि हमारी अवनति का प्रधान हेतु यही है कि हम अपनेपन का संमान करना नहीं जानते, अपनी विभूतियों और महत्ता की उपेक्षा करते हैं, और दूसरों के काँच के टुकड़े को देखकर अपने हीरे फेंक बैठते हैं। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है--'यूरोप और भारतवर्ष की आत्मा में बहुत अंतर है। यूरोप की दृष्टि सुंदर पर पड़ती है, भारत की सत्य पर। संपन्न यूरोप मनोरंजन के लिए गल्प लिखे, लेकिन भारतवर्ष कभी इस आदर्श को स्वीकार नहीं कर सकता। नीति और धर्म हमारे जीवन के प्राण हैं। हम पराधीन हैं, लेकिन हमारी सभ्यता पाश्चात्य सभ्यता से कहीं ऊँची है। यथार्थ पर निगाह रखने वाला यूरोप, हम आदर्शवादियों से जीवन-संग्राम में बाजी भले ही क्यों न ले जाय, पर हम अपने परंपरागत संस्कारों का आधार नहीं त्याग सकते। साहित्य में भी हमें अपनी आत्मा की रक्षा करनी ही होगी। हमने उपन्यास और गल्प का कलेवर यूरोप से लिया है लेकिन हमें इसका प्रयत्न करना होगा कि उस कलेवर में भारतीय आत्मा सुरक्षित रहे।' 'इतना मैं कह सकता हूँ कि मैंने नवीन कलेवर में भारतीय आत्मा को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया है।' यही प्रेमचंदजी की रचनाओं का मूलमंत्र है और इसी विचार के आधार पर उनकी कहानियों और उपन्यासों का आकार-प्रकार खड़ा है। किसी-किसी कहानी में तो उन्होंने केवल यही व्यंजित किया है कि अपनी संस्कृति ही कल्याण-कारिणी हो सकती है, जैसे--'शान्ति,' 'दो सखियाँ' और 'सोहाग का शव' में। इसी सिद्धांत के प्रतिपादन के निमित्त उन्होंने अनेक उपन्यासों और कहानियों के विभिन्न चरित्रों का चित्रण किया है। यही उनकी संपूर्ण रचना का रहस्य है।

२

प्रेमचंद की कुछ कहानियाँ

कहानियों के वर्गीकरण के अनेक सिद्धांत हैं, परंतु मुख्य आधार दो हैं। कहीं विचारकर्ता का विश्लेषण विषयगत होता है और कहीं रचना-पद्धति के आधार पर। कहानियों की रचना-शैली का यदि विचार किया जाय तो कुछ कहानियाँ इस प्रकार लिखी मिलेंगी जिसमें लेखक अपनी व्यावहारिक अनुभूति का कथन आप-बीती के रूप में करता है। अपने अनुभवों और घटना-प्रबंध को इस ढंग से लिखता है कि आत्मचरित का रूप खड़ा हो जाता है। इसे आत्म-चरितात्मक शैली कहा जा सकता है। इसमें उत्तम पुरुष और एक वचन का प्रयोग प्रधान होता है जैसे—'माँगे की घड़ी।' इसके अतिरिक्त कुछ कहानियों में लेखक का रूप इतिहास-लेखक-सा रहता है। उनमें लेखक अपने विषय-विस्तार के भीतर आनेवाली संपूर्ण घटनाओं के कार्य-कारण परिणाम का निर्दिष्ट ज्ञाता होता है और उन घटनाओं एवं कार्य-व्यापारों का कर्त्ता अथवा परिणाम-उपभोक्ता जो मानव है उसके अंतर्जगत् तथा स्थूल जीवन का दर्शक एवं समीक्षक भी वही होता है। ऐसी स्थिति में वह सच्चे विवरण-लेखक और आलोचक के रूप में दिखाई पड़ता है। स्वयं सूत्रधार बनकर अभिनय का नियंत्रण करते हुए दर्शकों की भाँति विश्लेषण और व्याख्या

करता चलता है। इस पद्धति पर लिखी कहानियाँ अधिक दिखाई देती हैं। जैसे—'अग्नि-समाधि', 'ऐक्ट्रेस', सुजान भगत' और 'सुहाग का शव'। इससे भिन्न पत्रात्मक शैली होती है। उसमें लेखक कुछ निर्दिष्ट पात्रों के बीच इस ढंग से पत्र-व्यवहार कराता है कि उनके जीवन की विभिन्न परिस्थितियों, संपादित हुए कार्य-व्यापार और भावों की अनेकरूपता इस प्रकार से लिखी जाती हैं कि उनका एक क्रम स्थापित हो जाता है। ये पात्र प्रायः मित्र होते हैं। एक पात्र दूसरे के पास पत्र लिखता है। उसमें अपने यहाँ की घटनाएँ, कार्य-व्यापार और तद्विषयक व्यक्तिगत भावनाएँ और विचार लिखता है। उसके प्रत्युत्तर में दूसरा मित्र पात्र उसका उत्तर और साथ में अपने पक्ष की बातों को लिखता है। इसी प्रकार प्रबंध का निर्वाह होता है। इसका अच्छा उदाहरण 'दो सखियाँ' शीर्षक कहानी है।

विषयगत वर्गीकरण कहानियों के विभिन्न तत्त्वों के न्यूनाधिक्य पर आश्रित है। वस्तु, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन (संवाद) देशकाल, उद्देश्य इत्यादि तत्त्वों के योग से कहानी की रचना होती है। इनमें से यदि किसी एक तत्त्व का प्राधान्य कहानी में दिखाई पड़ा तो उसी आधार पर उस कहानी का भेद-कथन किया जायगा। इससे यह तात्पर्य कदापि नहीं समझना चाहिए कि उसमें अन्य तत्वों का सर्वथा अभाव होगा प्रत्युत् अभिप्राय प्रधानता अथवा न्यूनाधिक्य का है। ऐसी कहानियाँ लिखी गई हैं जिनमें प्रत्यक्ष प्रधानता चरित्र की है अथवा उसके वस्तु (घटना) अथवा उद्देश्य (सिद्धांत-प्रतिपादन और उपदेश) में ही विशिष्टता दिखाई पड़ती है। इस प्रकार तत्त्वों के न्यूनाधिक्य के विचार से कहानियाँ चरित्र-प्रधान (जैसे 'सुहाग का शव' और 'माँगे की

घड़ी'), घटना - प्रधान (जैसे 'सुजात भगत' और 'अग्नि-समाधि') और उद्देश्यप्रधान (जैसे 'पिसनहारी का कुँआ' और 'पंच परमेश्वर') होती हैं। कुछ लोग विषयगत वर्गीकरण का साधारण स्थूल अर्थ लेकर ऐतिहासिक, सामाजिक, पौराणिक और राजनीतिक इत्यादि भेद उपस्थित करते हैं। परंतु ऐसा करना समुचित नहीं माना जा सकता क्योंकि इन विषयों की व्याप्ति अत्यधिक है और उनकी सीमा निर्धारित करना कठिन हो जाएगा।

इसके अतिरिक्त यदि संक्षेप और स्पष्टता अभिप्रेत हो तो कहानियों के केवल दो भेद करने चाहिए इतिवृत्त-प्रधान और भाव-प्रधान। इतिवृत्त-प्रधान के अंतर्गत उन सब कहानियों का समावेश होना चाहिए जिनमें कथांश अधिक है, भले ही प्रबंध-विस्तार में कहीं घटना की, और कहीं चरित्र की प्रधानता हो। उपदेश और सिद्धांत-प्रतिपादन में भी इसी वर्ग की कहानियाँ अधिक योग देंगी क्योंकि उदाहरण उपस्थित करने में सरलता हो सकती है। इनसे भिन्न वे कहानियाँ हैं जिनमें प्रतिपाद्य कोई भाव रहता है। उसके परिचय, आलंबन, उद्दीपन इत्यादि भर उपस्थित किए जाते हैं। भले ही अनुभाव प्रभृति अंगों के चित्रण के विचार से अथवा भाव की बिभिन्न स्थितियों के स्पष्टीकरण के लिए थोड़ी सहायता इतिवृत्त से भी ली जाय। परंतु वहाँ उद्देश्य केवल किसी भाव विशेष का आभास भर रहता है इस वर्ग के लेखकों में प्रधान 'प्रसाद' जी थे। प्रेमचंद की 'आत्मसंगीत' शीर्षक कहानी को इसी में स्थान मिलेगा।

प्रेमचंद की इन कतिपय कहानियों की, अत्यंत संक्षेप में, गुणावगुण-विवेचना करने के उपरांत उनके मूल-भाव और प्रतिपाद्य विषयों का परिचय एवं विश्लेषण ही मेरा अभिप्राय है।

कहानीकार की समग्र विभूतियों का अनुशीलन उद्दिष्ट नहीं है परंतु तद्विषयक विचार-विमर्ष से अवश्य ही उनकी साधारण रचना-चातुरी का स्वरूपबोधन हो जायगा। यों तो जैसा कहा जा चुका है, प्रेमचंदजी ने प्रायः सभी प्रकार की शैलियों में विविध वर्ग की आख्यायिकाएँ लिखी हैं, परंतु दो-चार को छोड़कर उनमें इतिवृत्त की ही प्रधानता है। उसी के योग से उन्होंने कहीं सिद्धांत-स्थापन, कहीं चरित्रांकन और कहीं वस्तु-स्थिति (घटना) का चित्रण किया है। वातावरण (देश-काल वर्णन) प्रधान कहानियाँ प्रेमचंदजी ने प्रायः लिखी ही नहीं। साधारणतः उनकी सभी रचनाओं, कहानियों और उपन्यासों में स्थान-स्थान पर प्रबंध में अनुकूलता मिलने पर ग्राम-नगर, धनाढ्य-दरिद्र, ऊँच-नीच, सभी का मार्मिक, अनुभूतिपूर्ण और प्रकृत चित्रण हुआ है। साथ ही इनसे लगा हुआ जो जीवन है उसका भी यथार्थ एवं प्रभविष्णु वर्णन सर्वत्र मिलता है। 'सुजान भगत', 'अग्नि-समाधि', 'पिसनहारी का कुँआ' और 'माँगे की घड़ी' शीर्षक कहानियाँ इस कथन में प्रमाण-स्वरूप उपस्थित की जा सकती हैं। उपन्यासों में तो ऐसे अनेकानेक स्थल आए हैं जहाँ इस विषय में लेखक की सिद्धि निर्विवाद दिखाई पड़ती है। परंतु यह सब साधन-रूप में हैं साध्य रूप में नहीं। अतएव उसकी प्रधानता नहीं मानी जा सकती। अंग्रेजी में इस सिद्धांत पर इतनी कहानियाँ लिखी जा चुकी हैं कि उनका एक वर्ग ही निर्धारित किया गया है; जिन्हें—'Atmosphere Stories' कहा जाता है। कहीं-कहीं 'प्रसाद' की कहानियों में इसका अच्छा प्रवेश दिखाई पड़ता है अन्यथा इस प्रकार की रचनाओं की ओर हमारे लेखकों की प्रवृत्ति अभी नहीं दिखाई पड़ती।

प्रेमचंदजी में कुछ दोष की बातें खटकती हैं। कहानी के क्षेत्र में भी नाटकीय योजना के प्रवेश से रस और आकर्षण बढ़ जाता है। अन्य विषयों की भाँति कहानियों का भी आरंभ और अंत—अभिनयात्मक ढंग से विशेष रुचिकर मालूम पड़ता है। प्रमाण और उदाहरण के रूप में 'प्रसाद' के 'आकाश-दीप' का आरंभ और 'गुंडा' का अंत रखा जा सकता है। उस प्रकार आरंभ और अंत संभवतः प्रेमचंदजी में कहीं न मिलेगा। उनका आरंभ प्रायः स्थान, मनुष्य और सिद्धांत-परिचय से होता है; अतएव उनमें एक प्रकार की रूक्षता दिखाई पड़ती है। इसके पहले कि पाठक प्रधान प्रवाह तक पहुँचे, उसका उत्साह क्षीणकाय हो जाता है। 'अग्नि-समाधि' में इसकी झलक स्पष्ट मिलती है। इसी प्रकार अंत भी रुक्ष हो जाता है। प्रधान कार्य-व्यापार की समाप्ति के उपरांत जब कहीं लेखक मूल-वृत्ति और निष्कर्ष की विवेचना करने लगता है तो निरर्थक सा ज्ञात होता है। अनुमितार्थ तक पहुँचने में सहृदय को जो काव्यात्मक आनंद का अनुभव होता है उसका अभाव इनकी कहानियों में खटकता है। साधारण उदाहरण के लिए 'सुजान-भगत' का अंत देख लीजिए। प्रतिपाद्य का स्पष्टीकरण वाचिक न बनाया जाता तो विशेष सुंदर मालूम पड़ता, यदि इसका मोह अनिवार्य था तो कुछ पूर्व अधिक अच्छा होता। इसी दोष से मिलती हुई एक बात और है। जिस स्थल पर कहानी समाप्त हो जानी चाहिए वहाँ नहीं की जाती। लेखक अपने पाठकों के अनुमित बोध पर विश्वास नहीं करता और तब तक अपना उद्देश्य सिद्ध नहीं समझता जब तक परिणाम का भलीभाँति कथन नहीं कर लेता। उसे संदेह रहता है कि कहीं ऐसा न हो कि पाठक बहक जायँ और अभीष्ट को प्राप्त न कर पाएँ।

इन दोषों का कारण भी है। लेखक अपनी प्रवृत्ति को भली भाँति जानता और समझता भी था। अतएव समयानुसार उसने तद्विषयक व्यक्तिगत विचार भी लिखे हैं जो विचारणीय अवश्य हैं। 'हम जब किसी अपरिचित प्राणी से मिलते हैं, तो स्वभावतः यह जानना चाहते हैं कि यह कौन है, पहले उससे परिचय करना आवश्यक समझते हैं। पर आजकल कथा भिन्न-भिन्न रूप से आरंभ की जाती है। कहीं दो मित्रों की बातचीत से कथा आरंभ हो जाती है, कहीं पुलिस-कोर्ट के एक दृश्य से। परिचय पीछे आता है। यह अंग्रेजी आख्यायिकाओं की नकल है। इससे कहानी अनायास ही जटिल और दुर्बोध हो जाती है।'※

रचना-पद्धति की विशिष्टता के अतिरिक्त कहानी और उस प्रकार की अन्य कथा-प्रबंध-मूलक कृतियों में तात्त्विक अंतर है। आजकल आख्यायिका-लेखन की रुचि की अधिकता के कारण कुछ लेखकों की यह धारणा दिखाई देती है कि संभवतः उपन्यासों का स्थान भी इन्हीं को मिल जायगा। वे अज्ञानवश यह विचार करने लगे हैं कि इन दोनों प्रकार की रचनाओं में केवल आकार-भेद है अन्यथा वे एक ही वर्ग की सृष्टि हैं। इस भ्रांतिमूलक विचार के कारण अज्ञान फैल रहा है। कोमल-बुद्धि विद्यार्थियों के ऊपर इस ढंग की बातों का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। वस्तुतः आख्यायिका और उपन्यास में रचना-पद्धति और सिद्धांत-संबंधी बड़ा व्यापक अंतर है। दोनों के लक्ष्य और साधन में तात्त्विक भेद है। दोनों की मूल भित्ति ही भिन्न-भिन्न हैं। अतएव एक दूसरे के स्थान को कदापि ग्रहण नहीं कर सकते।

※ 'कुछ विचार' भाग एक, लेखक—प्रेमचंद; पृ० ४० प्रकाशक—सरस्वती प्रेस, बनारस।

अवसर मिलने पर इस विषय का विचार अन्यत्र किसी समय किया जायगा। यहाँ इस विषय पर मुंशी प्रेमचंदजी ही के एक उद्धरण के द्वारा यह विषय स्पष्ट किया जायगा। यों तो उनका कथन साधारण और संक्षिप्त है परंतु अभीष्ट-सिद्धि के लिए यथेष्ट है। 'प्रश्न यह हो सकता है कि आख्यायिका और उपन्यास में आकार के अतिरिक्त और भी कोई अंतर है ? हाँ, है और बहुत बड़ा अंतर है। उपन्यास घटनाओं, पात्रों और चरित्रों का समूह है; आख्यायिका केवल एक घटना है—अन्य बातें सब उसी घटना के अंतर्गत होती हैं। इस विचार से उनकी तुलना ड्रामा से की जा सकती है। उपन्यास में आप चाहे जितने स्थान लाएँ। चाहे जितने दृश्य दिखाएँ, चाहे जितने चरित्र खींचे; पर यह कोई आवश्यक बात नहीं कि वे सब घटनाएँ और चरित्र एक ही केंद्र पर आकर मिल जायँ। उनमें कितने ही चरित्र तो केवल मनोभाव दिखाने के लिए ही रहते हैं; पर आख्यायिका में इस बाहुल्य की गुंजाइश नहीं; बल्कि कई सुविज्ञजनों की संमति तो यह है कि उसमें केवल एक ही घटना या चरित्र का उल्लेख होना चाहिए।*

इस प्रकार प्रत्येक कहानी में केवल एक ही मूल लक्ष्य अथवा साध्य रहता है। वह चाहे चरित्र की झलक हो, चाहे किसी घटना का महत्त्व हो अथवा किसी तत्व, सिद्धांत और भाव का स्पष्टीकरण हो। इसी कथन के आधार पर मैं यहाँ 'अग्नि-समाधि तथा अन्य कहानियों' शीर्षक संग्रह में आई हुई आठों आख्यायिकों के मूल प्रतिपाद्य विषय का उल्लेख भर करूँगा। इसमें यह बात स्पष्ट हो जायगी कि लघु विस्तार के भीतर थोड़े से

* वही, पृ० ३८।

कार्य-व्यापारों के द्वारा और संक्षिप्त घटनाओं की योजना करके एक विज्ञ अनुभवी लेखक कितनी चतुराई के साथ अपने अभिप्रेत लक्ष्य को पाठकों के संमुख रखकर अपनी प्रतिभा-चमत्कार से प्रभावित करता है। इन लक्ष्य विषयों का कहीं-कहीं तो प्रेमचंदजी ने कहानी-रचना के बीच ही में स्वयं स्पष्ट शब्दों में उल्लेख कर दिया है, जैसे—'सुजान-भगत', 'दो सखियाँ' और 'ऐक्ट्रेस' में और कहीं-कहीं पाठक विभिन्न घटना और कार्य-व्यापारों के बल पर निष्कर्ष-रूप में इष्ट तक पहुँच जा सकता है। कुछ लोग तो इस प्रकार के स्पष्ट शाब्दी इष्ट-कथन को बहुत सुंदर नहीं मानते। उनका विचार है कि साध्य अनुमानगम्य ही रहने दिया जाय तो अच्छा है। परंतु 'भिन्नरुचिर्हि लोके'।

अग्नि-समाधि—इस कहानी में लेखक ने गाँव के जीवन और वातावरण का सुंदर और प्रकृत चित्रण किया है। वहाँ के लोगों की स्थिति क्या है; कौन उसके सच्चे प्रतिनिधि हैं, शिक्षा के अभाव से उनका जीवन कितना कटु एवं विषम बना है, इसकी यथार्थ झलक थोड़े से विस्तार में ही दे दी गई है। वहाँ कैसी और किस कारण परिस्थितियाँ खड़ी हो जाती हैं; उनके मूल में और परिणाम में मनुष्य किस रूप में दिखाई पड़ता है और फिर अपने ही उत्पन्न किए हुए परिणामों के कारण उसके चरित्र एवं आचरण में कैसा परिवर्तन उपस्थित होता है, इसका विश्लेषण अच्छा है।

'साधु-संतों के सत्संग से बुरे भी अच्छे हो जाते हैं, किंतु प्रयाग का दुर्भाग्य था कि उस पर सत्संग का उलटा ही असर हुआ। उसे गाँजे, चरस और भंग का चस्का पड़ गया, जिसका फल यह हुआ कि एक मेहनती, उद्यमशील युवक आलस्य का उपासक

बन बैठा।' फिर क्या था जब तक उसकी पत्नी रुक्मिन उसके इन दुर्व्यसनों के लिए पैसे देती रही तब तक तो ठीक था। लेकिन टालटूल का रूप देखते ही वह सिलिया को उपपत्नी के स्वरूप में ले आया और इस प्रकार कभी इससे और कभी उससे उनकी मेहनत की कमाई का पैसा पाने लगा। एक दिन दोनों स्त्रियों में युद्ध हो पड़ा और उसने नवागता का पक्ष लेकर रुक्मिन को खूब पीटा। पिटने के कारण उसकी समस्त आत्मा हिंसा-कामना की अग्नि से प्रज्वलित हो उठी और प्रतिकार-भाव से प्रेरित होकर उसने खेत पर पड़ी प्रयाग की सोनेवाली मड़ैया में आग लगा दी। प्रयाग जब वहाँ पहुँचा तो दोनों तरफ पके खेतों के बीच में मड़ैया को जलती देखकर जल्दी से उसके नीचे पहुँच लाठी के बल उसे उठा लिया और खेतों के बाहर निकलने की चेष्टा करने लगा। अभी वह पूरा निकल भी नहीं पाया था कि आग की लपटों के बढ़ जाने के कारण लड़खड़ाने लगा। इतने में ही बड़े वेग से रुक्मिन आई और जलती मड़ैया के भीतर घुसकर उसे अपने ऊपर लेकर वेग से खेतों के बाहर तो निकल आई परंतु मड़ैया के भीतर से न निकल पाई।

यह शुद्ध इतिवृत्तात्मक कहानी है। कुढ़न के मारे रुक्मिन ने स्वयं अनिष्ट खड़ा किया और प्रतिकार-भावना से प्रेरित होकर उसने पति को दंड देने का उद्योग किया। इसमें पूरा-पूरा प्रकृतत्व है। उसका अभिप्राय यह नहीं था कि प्रयाग उस मड़ैया में जल मरे। जब उसने चरम अपघात होते देखा तो उस अनिष्ट के मूल में अपने को पाकर उसके चित्त में चरम प्रायश्चित का भाव भी तुरंत ही उदय हो उठा और ममत्व एवं कर्तव्यबुद्धि से प्रेरित होकर उसने अपने अनिष्ट से लड़कर अपने पति की रक्षा

करने में अपने को ही समाप्त कर दिया। क्षणिक आवेश में मनुष्य चाहे पशुता का नाट्य भले ही कर ले परंतु वह अपनी प्रकृति को नहीं छोड़ सकता। मनुष्य अंत में मनुष्य ही रहेगा।

माँगे की घड़ी—यह कहानी मनुष्य की एक लघु दुर्बलता का चित्रण करती है। अपनी यथार्थ स्थिति का गोपन और अपने अभावों के आच्छादन की चेष्टाएँ तो मनुष्य में सहज होती हैं परंतु इसी प्रवृत्ति का यदि अधिक विस्तार हो जाय तो वह एक दुर्बलता के रूप में दिखाई पड़ती है। चरित्र का यह भद्दापन यहाँ तक बढ़ जाता है कि मनुष्य बात-बात में अपनी दरिद्रता, लघुता और अभावों को अपने प्रियतम से भी छिपाने का उद्योग करता है और उसके स्थान पर संपन्नता के नाट्य का पूर्ण प्रयत्न करके अपने चारों ओर भ्रांति का खोल चढ़ा लेता है। कुछ समय तक तो ऐसा ज्ञात होता है कि उसका असत् आवरण सत्य है परंतु मिथ्या-भ्रांति अधिक दूर तक चल नहीं पाती और अंत में उसका प्रकृत स्वरूप स्पष्ट सामने आ जाता है। उस समय उसके चरित्र का खोखलापन उनकी क्षुद्रता को प्रकट कर देता है। फिर अपने प्रकृत गौरव से हीन वह मानव अत्यंत कायर, भीरु तथा मिथ्या अहंकारी के रूप में बहुत ही भद्दा मालूम पड़ने लगता है। इस प्रकार उसके व्यक्तित्व का सर्वथा नाश हो जाता है और वह स्वयं अपने को धिक्कारने लगता है; दूसरों की आँखों से तो गिर ही जाता है।

चरित्र की इसी दुर्बलता का चित्रण लेखक ने विस्तार से अपने 'गबन' नामक उपन्यास में भी किया है उसी विषय को कहानी रूप में यहाँ रखा गया है। दरिद्र और साधारण वित्त

के होने पर भी एक साहब अपनी ससुराल जाने के लिए बहुत-से लोगों से बहुत-सी चीजें मँगनी माँग लेते हैं। अपने संपूर्ण अभावों का गोपन करके अपनी ससुरालवालों के सामने श्रीमान और संपन्न बनने का पूरा ढोंग कर लेते हैं। यों तो दानू किसी को कोई चीज मँगनी नहीं देता परंतु उसने भी इनकी व्यवहार-कुशलता से परास्त होकर अपनी घड़ी दे दी। ससुराल में इनकी पत्नी ने बड़े आग्रह से उस घड़ी को हथिया लिया। दरिद्रता प्रकट न हो जाय इस भय से इन्होंने उससे भी अपनी सच्ची स्थिति व्यक्त नहीं की। जब वहाँ से लौटकर दानू के पास आए तो बड़े संकट में पड़ गए। उसकी इतने दामों की घड़ी की क्षतिपूर्ति के लिए इन्हें छः मास तक अपने मासिक वेतन से पन्द्रह रुपए काटकर देने पड़े। लेकिन इस घटना से एक उपकार हो गया। जो हर महीने तीस रुपए में भी इनका खर्च बड़ी कठिनाई से चलता था वह अब पन्द्रह रुपए मासिक में बड़े संतोष के साथ चलने लगा। इनका इस प्रकार सुधार देखकर दानू ने इनके सब रुपये लौटा दिए। इस प्रकार उनके जीवन की अनेक अव्यवस्थाएँ दूर हो गईं और उनका चरित्र सुंदर हो गया।

इस कहानी में चरित्र और उपदेश की ही प्रधानता है। चरित्र की दुर्बलता के कारण एक घटना घटित हुई और उस घटना के चक्कर में पड़कर चरित्र का शोधन हो गया। मनुष्य को अपनी स्थिति के अनुसार ही चलना चाहिए। मिथ्या रूप से चरित्र का अधःपतन होता है—यह उपदेशांश है। संयोग से ही दानू ऐसे उत्तम मित्र जीवन में मिलते हैं और दूसरे के सुधार में योग देते हैं।

सुजान भगत—'वही तलवार, जो केले को भी नहीं काट

सकती; सान पर चढ़कर लोहे को काट देती है। मानव जीवन में लाग बड़े महत्त्व की वस्तु है। जिसमें लाग है वह बूढ़ा भी हो तो जवान है; जिसमें लाग नहीं, गैरत नहीं, वह जवान भी हो तो मृतक है।' यही इस कहानी का प्रतिपाद्य विषय है। ग्रामीण जीवन और मनोवृत्ति का चित्रण करते हुए लेखक ने सुजान भगत में उक्त कथन का भली-भाँति चित्रण किया है। जब कोई मनुष्य को ललकार देता है, उसकी शक्ति और क्षमता का निरादर करता है और उसके न्यायपूर्ण अधिकार-पद से उसे अपदस्थ करने की चेष्टा करने लगता है तो उसके अंतस् में प्रसुप्त बलिष्ट भाव प्रबुद्ध और चैतन्य होकर चौगुने उत्साह से प्रकट होता है। ऐसे ही उत्साह से मनुष्य आश्चर्यचकित कर देनेवाले कार्यव्यापारों का लघु प्रयास में ही संपादन कर लेता है और प्रमाणित कर देता है कि वह आदरणीय है।

अनवरत अध्यवसाय और अथक परिश्रम से सुजान के खेतों में सोना पैदा होने लगा। फिर तो उसका धर्म-भाव जगा और वह साधु-संतों की आवभगत और तीर्थयात्रा की ओर प्रवृत्त हुआ। घर का काम-काज अपने पुत्र भोला के ऊपर छोड़ दिया परंतु कुछ ही दिनों में उसने देखा कि धीरे-धीरे घर में उसका निरादर होने लगा और लोग उसे शक्तिहीन समझने लगे। एक दिन भिखमंगे को भीख देने में ही भोला ने उसका हाथ रोक दिया। इस निरादर में उसकी पत्नी बुलाकी का भी हाथ था। यही निरादर सुजान को लग गया। फिर क्या था। उसके अंतस् में सोई कर्मवीरता पुनः प्रबुद्ध हो उठी और उसने फिर से वही अथक परिश्रम और अविरत अध्यवसाय आरंभ किया। थोड़े ही दिनों में उसने प्रमाणित कर दिया कि उसके जवान बेटे कुछ नहीं

हैं और उसका खोया अधिकार-पद पुनः उसे प्राप्त हो गया। वृद्ध पिता ने युवक पुत्र को परास्त कर दिया। गृहराज्य में फिर उसकी तूती बोलने लगी।

दो सखियाँ—मानव-जीवन की अति प्रमुख एवं प्रभावशाली घटनाओं में विवाह है। इसकी मूल भित्ति धर्म है। धर्म, अर्थ और काम से तो इसका सीधा संबंध है ही साथ ही प्रकारांतर से यह मोक्ष में भी योग देता है। आजकल जिस प्रकार का सांस्कृतिक संघर्ष हमारे देश में चल रहा है उसके कारण भारतीय एवं पाश्चात्य आचार-विचार, रहन-सहन और धर्म-विश्वास में बड़ी खींच-तान मची है। विश्वबंधुत्व एवं राजनीतिक-सामाजिक उदारता के नाम पर अनाचार भी हमारे जीवन में प्रवेश पा रहा है। उसी प्रकार के सांस्कृतिक उथल-पुथल का प्रभाव विवाह के मूल आधार-भूत सिद्धांतों पर भी पड़ रहा है। असंस्कृत शिक्षा-वृद्धि के कारण कोमलचित्त नवयुवतियों पर इसका अनिष्टकारी प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है।

प्रस्तुत कहानी में प्रेमचंदजी ने इसी सांस्कृतिक संघर्ष का व्यावहारिक चित्र खींचा है। विवाह-प्रथा के मूल में भारतवर्ष के अपने मौलिक तथा व्यावहारिक सिद्धांत क्या हैं; उनमें क्या सौंदर्य और लक्ष्य है; उसके दोष-गुण क्या हैं—इसके प्रसंगयुक्त विश्लेषण का प्रतीक चंदा की मूर्ति और भावनाएँ हैं। चंदा विवाह को धर्म और कर्तव्य के रूप में स्वीकार करती है। उस कर्तव्य-पालन के मार्ग में जो बाधाएँ मिलती हैं उनका अतिक्रमण विवेक, त्याग, सेवा, कष्टसहिष्णुता और चरित्रबल के योग से बड़ी सरलतापूर्वक कर लेती है। वह 'तो विवाह को सेवा और त्याग का व्रत समझती है और इसी भाव से उसका अभिवादन करती

है।' वह अपनी स्वदेशी, पाँच हजार वर्षों की पुरानी जर्जर नौका पर ही बैठकर जीवन-सागर पार करना अधिक मंगलकारी एवं श्रेयस्कर मानती है।

दूसरी ओर उसकी सखी पद्मा है जो द्रुतगामी मोटर-बोट पर चढ़कर साथ में अवसर, विज्ञान और उद्योग को लेकर चलना ही उत्तम समझती है। 'वह ईश्वर को धन्यवाद देती है इसलिए कि उसके पिता पुरानी लकीर पीटनेवाले नहीं हैं। वह उन नवीन आदर्शों के भक्त हैं जिन्होंने नारी-जीवन को स्वर्ग बना दिया है।' उसके लिए भारतीय वैवाहिक प्रथा की दीवार सड़ गई है जिसकी टीप-टाप करने से काम न चलेगा और समझती है कि उसकी जगह नए सिरे से दीवार बनाने की जरूरत है। इस प्रकार उसके स्वभाव में नवीनता, प्रेम, अधिकार और अहं की प्रतिष्ठा, चपलता, उच्छृंखलता और अभिमान है। वह पति पर सबसे अधिक अधिकार उनकी पत्नी का मानती है। वह संपूर्ण लालसाओं, काल्पनिक सुखों और भौतिक वासनाओं को लेकर विनोद की ओर दौड़ती है और उसके सर्वस्व पर एक क्षण में अधिष्ठित होने की कामना करके भी अपनी ओर से कुछ देना नहीं चाहती। उसे चारों ओर अविश्वास ही दिखाई देता है। इस प्रकार पश्चिमी सभ्यता में रँगी रमणी विवाह के मूल में किन भावनाओं का दर्शन करती है और उसकी विचार-पद्धति का क्या परिणाम होता है इसका उदाहरण पद्मा के रूप में दिया गया है।

इस व्यावहारिक शैली का अनुसरण करके अनुभवी लेखक ने दोनों देशों की वैवाहिक मूल भित्ति के सैद्धांतिक अंतर का मार्मिक एवं यथार्थ चित्रण किया है। इसी विषय को लेकर

लेखक ने प्रेम-द्वादशी में संग्रहीत 'शांति' शीर्षक कहानी भी लिखी है। उन कहानियों का प्रतिपाद्य विषय है—स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।

पिसनहारी का कुआँ—मृत्यु-शय्या पर पड़ी हुई गोमती ने चौधरी से अपने जीवन की लालसा कही और अपनी गाढ़ी कमाई की सारी बचत उनके पास थाती की तरह सौंप गई—दो हजार रुपए। उसकी मृत्यु के बाद शुद्ध चित्त से चौधरी ने उसकी लालसा पूरी करने की ठानी परंतु परिस्थिति से प्रेरित होकर कुआँ तुरंत बनवा न सके। बहुत दिन समाप्त हो गए। फिर भी चौधरी का मन साफ था लेकिन उनकी पत्नी और पुत्र के फेरफार से कुआँ न बन सका। चौधरी मरे, उनकी पत्नी भी गई और अंत में पुत्र भी चल बसा, परंतु उसके मरते-मरते भी जिस लालसा को गोमती प्रकट कर गई वह पूरी न हो सकी। चौधरी की बची-बचाई पुत्र-बधू भी समाप्त हो गई; पर प्रतिनिधि रूप में एक नन्हीं-सी पुत्री छोड़ गई। उस अनाथ बालिका ने बाल-प्रयास में ही एक कुआँ बनवाया। दैव की और उसके अंतस् की प्रेरणा थी। जिस दिन गोमती के खंडहर पर वह कुआँ पूरा हुआ उसी रात कुँए पर सोई वह बालिका मर गई। वह गोमती का अवतार थी।

इस आख्यायिका में लेखक ने गीता में प्रचारित उस सिद्धांत की व्याख्या की है जो इस श्लोक में वर्णित है—

यं यं वापिस्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरं।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

जिस लालसा और भावना को लेकर प्राणी प्राण त्याग करता है उसकी पूर्ति के लिए उसे पुनः जन्म ग्रहण करना पड़ता है।

गोमती की लालसा पूर्ण न हो सकी थी अतएव उसे चौधरी की प्रपौत्री के रूप में पुनः उत्पन्न होना पड़ा। इसके अतिरिक्त थोड़ा उपदेशांश भी स्पष्ट दिखाई पड़ता है। किसी दुखी को सताकर, किसी पराये का धन हड़प कर और उससे विश्वासघात करके कोई प्रसन्न और सुखी नहीं हो सकता। विश्वासघात का प्रतिफल नाश और यातना है जो चौधरी के परिवार को प्राप्त हुआ।

सोहाग का शव—अपनी प्रियतमा पत्नी सुभद्रा से अपने प्रेम में स्थिर रहने की प्रतिज्ञा करके उच्च आकांक्षाओं की पूर्ति निमित्त केशव डाक्टर की उपाधि लेने के लिए विलायत गया। कुछ दिनों में ही वहाँ के जीवन में ऐसा डूबा कि घर पत्र लिखना भी बंद हो गया। सुभद्रा को संदेह हुआ और वह पतिप्रेमिका निर्भीक रमणी विलायत गई। वहाँ अपने पति को एक युवती के प्रेमजाल में फँसा देखकर पहले तो उसने व्यवधान डालने की चेष्टा की परंतु सफल न हो सकी। इस पर उसके भीतर हिंसात्मक भावनाएँ उठीं जिसके कारण उसने केशव और अपनी जीवन लीला समाप्त करने की ठानी। ठीक अवसर पर देवत्व के जागरित होने से परिवर्तन उपस्थित हुआ और अंत में वह चरम-प्रतिकार पर सन्नद्ध हो गई।

शिक्षित एवं बुद्धिमती पत्नी अपने चरित्रबल के आधार पर कितना आगे बढ़ सकती है इसका उत्तम उदाहरण लेखक ने इस आख्यायिका में उपस्थित किया है। यों सुभद्रा का कार्य-व्यापार मात्रा से कहीं अधिक बढ़ा दिया गया है। जिससे यथार्थ दूर मालूम पड़ता है परंतु विषय-निवेदन अथवा सिद्धांत-प्रतिपादन में कोई अड़चन नहीं होने पाई। सुभद्रा के चरित्र का पूर्ण विकास हुआ है। इस विकास के अनुकूल घटनाएँ घटित

होती गईं और अंत में उसकी सफलता में बड़ी मार्मिकता उत्पन्न हो गई है। यह शुद्ध चरित्र-प्रधान कहानी का अच्छा उदाहरण है। उसी रूप में इसका विवेचन होना चाहिए।

सुभद्रा पतिपरायण, व्यवहारकुशल, स्वावलंबी, निर्भीक, विवेकशील, तत्पर एवं त्यागमयी है। चरित्र की संपूर्ण विभूतियों की प्रतिमा है। पति के हित का चिंतन कर उसे विलायत भेजती है। अपने संकुचित स्वार्थप्रेम के पाश में उसे जकड़ती नहीं। उसके विश्वास-पूर्ण प्रेम में जब ठोकर लगती है तब बड़ी तत्परता से अनिष्ट को बचाने का बुद्धि-संगत उद्योग भी करती है। जब पति की ओर से अपने प्रति आक्षेपयुक्त मिथ्या आरोप की बातें सुनती है तब रमणी-सुलभ अभिमान, अमर्ष और हिंसात्मक भावुकता उत्पन्न होती है। केशव के साथ अपनी जीवनलीला भी समाप्त करना चाहती है परंतु इस भावना के मूल में भी ममत्व ही है। वह त्याग, विरक्ति, निराशा को ही अपनाकर भारतीय पत्नीत्व की गरिमा निबाहती है। उसका यह विरोध सात्विक, मंगलमय और उदात्त है।

आत्मसंगीत—जो गद्य-लेखक कभी कविता नहीं लिखता उसे भी यदि रहस्यवादी कविता लिखने की उमंग आ ही गई तो वह अंतस् की प्रेरणा से गद्य में ही कविता बनाने लगता है। इस प्रकार की तरंग जितनी ही कम उठे उतना ही अच्छा है क्योंकि न तो उसे शुद्ध कविता और न शुद्ध भावात्मक कहानी ही कह पाते। प्रेमचंद जी की भाँति प्रतिभासंपन्न लेखक तो कुछ-न-कुछ सुंदर कह ही डालेंगे परंतु कोरे नक़ालची यदि उनका अनुकरण करने पर कमर कसेंगे तो अवश्य ही भँड़ौवापन सामने ला खड़ा करेंगे, जैसा दो-एक ने किया है।

प्रस्तुत कहानी में प्रेमचंद जी ने एक आध्यात्मिक रहस्य का तात्विक प्रतिपादन किया है। रानी ने जिस दिन मंत्र-दीक्षा ली उसी रात्रि में एक दार्शनिक घटना घटी। नीरव रात्रि में सहसा एक मधुर संगीत उसे सुनाई पड़ा। उस संगीत की अलौकिकता ने उसके भीतर ऐसा प्रबल भावावेश उत्पन्न किया कि बिना इस संगीत के समीप पहुँचे उसके प्राण निकल रहे थे। अपने जीवन की संपूर्ण भौतिकता का नाश करके भी वह उसे प्राप्त करना चाहती थी। उसका व्यक्तित्व, उसका सर्वस्व संगीत की मधुरिमा में डूब गया और उसे अपनी संज्ञा का भी ज्ञान न रह गया। ऐसे आध्यात्मिक तादात्म्य एवं तल्लीनता की स्थिति में उसे ज्ञात हुआ कि वह स्वयं उस संगीत की जननी है। वह अलौकिक स्वर-लहरी उसी के मानस-लोक से निरंतर प्रवाहित हो रही है।

इस कहानी में दार्शनिक भाव की विवृति और उससे ओत-प्रोत संपूर्ण अंतस् की विशिष्ट प्रेरणा का सुंदर प्रभाव दिखाया गया है। भावुक हृदय के अत्यंत प्रबुद्ध हो उठने पर बौद्धिक चेतना नितांत बलहीन होकर सुषुप्ति की स्थिति में आ जाती है; परंतु उसी भाव-प्रवणता के अतिरेक के डूबते ही चेतना का उदय निर्मल ढंग से होता है और यथार्थज्ञान की प्राप्ति होती है। साधक और भक्त को जैसे ही इष्ट अथवा साध्य के तादात्म्य का बोध होता है वैसे ही वह संप्रबुद्ध होकर स्थिर हो जाता है और उसका संपूर्ण व्यक्तित्व साध्य के ही अनुरूप अलौकिक हो उठता है। पार्थक्य-मूलक अज्ञानावस्था का चित्रण कबीर के इस दोहे में स्पष्ट है—

सो साईं तन में बसै ज्यों पुहुपन में वास।
कस्तूरी के मिरिग ज्यों सूँघै फिरि फिरि घास॥

ऐक्ट्रेस—तारा को रंगमंच पर शकुंतला का अभिनय करते

देखकर निर्मलकांत उससे प्रेम करने लगता है और अनुकूल स्थिति उत्पन्न करके अपने हृदय का भाव उससे प्रकट भी करता है। तारा इसे स्वीकार करती है और निर्मल विवाह के लिए उद्यत होता है। उसकी सचाई और निर्मलता का ऐसा प्रभाव तारा पर पड़ा कि उसके जीवन में परिवर्तन हो उठा। उसको अपने सौंदर्य और जीवन का खोखलापन बहुत ही हीन मालूम पड़ा। सच्चेपन के सामने उसका बनावटी आचरण न टिक सका। निर्मल का सच्चा प्यार पाकर वह भी उसे हृदय समर्पित कर बैठी। प्रेम के उभय पक्ष में स्थिर होते ही तारा में सत्य का रूप चमका और उसने अपने मिथ्या व्यवहार के लिए प्रायश्चित्त करने का विचार किया। प्रत्यक्ष में नहीं तो एक पत्र में ही अपनी स्थिति स्पष्ट करके आत्मसमर्पण करती हुई सर्वदा के लिए वह स्थान छोड़कर चली जाती है।

'प्रेम सत्य है—और सत्य और मिथ्या, दोनों एक साथ नहीं रह सकते।' मूलतः यही कहानी का प्रतिपाद्य विषय है। निर्मल सत्य का और तारा मिथ्या का रूप है। सत्य-प्रेम की प्रतीति जिस समय उत्पन्न होती है उस समय मिथ्या-माया से संबद्ध भौतिकता की ओर ले जानेवाली क्षणिक भावनाएँ—लालसा, विलास, कुतूहल और अहंकार—तिरोहित हो जाती हैं; मानव-मानस शुद्ध एवं निर्मल हो उठता है और उसमें संकुचित स्वार्थ के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता। परिणाम-रूप में उदारता; उत्सर्ग और स्थिरगांभीर्य का ही पूर्ण आधिपत्य स्थापित हो जाता है। उस समय प्रिय पक्ष की प्रधानता तथा अपने पक्ष को नगण्यता ही सर्वोपरि दिखाई पड़ने लगती है।

———

३

गोदान

अध्ययनका दृष्टिकोण—हिंदी की उपन्यास-रचना के क्षेत्र में प्रेमचंद का स्थान विशेष महत्त्व का है और उनकी अंतिम कृति 'गोदान' का सर्वोपरि। यह उपन्यास अपने ढंग का अद्वितीय ग्रंथ है। अभी तक लिखे गए हिंदी के समस्त उपन्यासों का यदि वर्गीकरण किया जाय तो 'गोदान' के लिए ही केवल एक पृथक वर्ग की संज्ञा निर्धारित करनी पड़ेगी; क्योंकि उसे अन्य किसी वर्ग के अंतर्गत रखने में क्रियाकल्प अथवा रचना-विधान-संबंधी अनेक अवरोध उत्पन्न होंगे। उसका सारा ढाँचा ही निराला है और उसमें प्राप्त विशेषताएँ किसी दूसरे उपन्यास में नहीं दिखाई पड़ेंगी। टालस्टाय के 'युद्ध और शांति' (वार ऐंड पीस) की जो प्रशस्ति विविध समीक्षकों ने प्रस्तुत की है* उसके अनुरूप

---

*"I think Tolstoy's **War and Peace** is the greatest novel. No novel with such a wide sweep, dealing with so momentous a period of history and with such a vast array of characters, was ever written before, nor, I surmise, will ever be written again. It has been justly called an epic. I can think of no other work

सभी गुण-धर्म हिंदी के इस महाकाव्यात्मक उपन्यास में प्राप्त होते हैं। उक्त रूसी रचना में देश और काल की ऐसी व्यापक और साथ ही परिपूर्ण अभिव्यक्ति हुई है कि उसके द्वारा तत्कालीन रूस

---

of fiction that could with truth be so described." —W. Somerset Manghom.

"A complete picture of human life. A complete picture ef the Russia of that day. A complete picture of what may be callcd the history and struggle of people. A complete picture of everything in which people find their happiness and greatness, their grief and humiliaton. That is **War and Peace.** —Strakhov.

मेरे विचार से टालसटाय का 'वार ऐंड पीस' सर्वोत्कृष्ट उपन्यास है। न तो पहले कभी इतने व्यापक क्षेत्र को लेनेवाला और इतिहास के ऐसे महत्त्वशाली-काल का विवेचन करनेवाला तथा चरित्रों के ऐसे विशाल समुदाय से युक्त कोई उपन्यास लिखा गया और न मेरे विचार से कभी लिखा ही जायगा। इसे उचित ही महाकाव्य कहा गया है। मेरे ध्यान में ऐसी कोई अन्य कथाकृति नहीं आती जिसे वास्तविक रूप में ऐसा कहा जाय।

—डब्लू० समरसेट मौंघम्

'वार ऐंड पीस' है—मानव-जीवन का पूर्ण चित्र, तत्कालीन रूस का सांगोपांग चित्र, जनता के संघर्ष और इतिहास का संपूर्ण चित्र, जहाँ जनता अपना सुख और महत्ता पाती है, अपनी वेदना और अवमानना पाती है—ऐसा पूर्ण चित्र।

—स्ट्रेखोव

का अनन्य और सच्चा प्रतिनिधित्व हो जाता है और इसी को उसके कृतिकार ने अपना चरम साध्य माना है।

'गोदान' में प्रेमचंद का भी प्रयास इसी पद्धति का हुआ है। यही कारण है कि साध्य-भेद से संपूर्ण साधनों में भी नवीनता उत्पन्न हो गई है। क्रियाकल्प का वह रूप जो लेखक की अन्य अनेक कृतियों में दिखाई पड़ता है इसमें नहीं मिलता। इसीलिए सामान्य हिंदी के आलोचक इस रचना की अंतःशयिनी प्रवृत्तियों का ठीक से उद्‌घाटन नहीं कर सके और किसी निर्दिष्ट आधार पर उसकी विवेचना नहीं हो सकी। साधारणतः तो यही होता है कि किसी विशेष पात्र को केंद्र में स्थापित करके उसके जीवन का ऐसा प्रवाह उपन्यास में दिखाया जाता है कि विभिन्न परिस्थितियों के घातप्रतिघात में पड़कर उसकी एक अथवा अनेक मनः स्थितियाँ अथवा शील-वैचित्र्य किसी सुनिश्चित योजना-क्रम से विकसित होता है। इसीलिए ऐसी रचनाओं में मुख्यतः आधिकारिक कथा के योग में अन्य अनेक सहायक और प्रासंगिक इतिवृत्त आते हैं और आगे चलकर उसी में विलीन हो जाते हैं। शील-उद्‌घाटन के विचार से भी ऐसी कृतियों में किसी मुख्य पात्र के इतिहास एवं स्वरूप-संगठन के निमित्त अन्य अनेक पात्र अपने-अपने क्रिया-कलाप संपादित करते और व्यक्तिगत विशेषताएँ झलकाते हुए उसी आधिकारिक नायक के व्यक्तित्व-स्थापन में नियोजित दिखाए जाते हैं। इस प्रकार संपूर्ण रचना का अंत किसी एक फल-प्राप्ति, सिद्धांत-ध्वनि अथवा स्वरूप प्रतिष्ठा में होता है। स्वयं प्रेमचंद के अन्य सभी उपन्यासों में यही पद्धति अपनाई गई है।

'गोदान' में आकर ऐसा स्पष्ट मालूम पड़ता है कि अनुभवी

कृतिकार ने अपना सारा रचनात्मक ढाँचा बदल दिया है और एक सर्वथा नवीन पद्धति अपनाई है। यह नवीनता केवल क्रिया-कल्प तक ही परिमित नहीं है और केवल वस्तुविन्यास एवं चारित्र्योद्‌घाटन में ही नहीं मुखरित हुई है अपितु जीवन के अंतर्भूत सिद्धांतों तथा जगत् के व्यवहार में स्थापित मान्यताओं पर भी अपना प्रभाव डालती दिखाई पड़ती है। जो प्रेमचंद 'सेवासदन' से लेकर 'कर्मभूमि' तक किसी न किसी आदर्श-प्रचार में व्यस्त रहे और निरंतर एक विशेष प्रकार के जीवन-दर्शन की स्थापना में ही साहित्य का चरम लक्ष्य देखते रहे वही 'गोदान' में पहुँच कर जैसे उदारबुद्धि, सहिष्णु और समन्वय-वादी बन उठे हैं। 'गबन' में रमानाथ की प्रकृत जीवन-धारा और सामाजिक संगठन के भीतर जब अपनी जोहराबाई की सुगम व्यवस्था नहीं कर सके तो उस बेचारी को जलधारा में विलीन कर दिया; सुमन के लिए समाज के सामान्य प्रसार में कहीं स्थान एवं रंध्र न ढूँढ़ सके तो एक सुधारगृह और सेवा-सदन की ओर उन्मुख हुए। इसी प्रकार 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि' और 'कर्मभूमि' में न जाने कितनी असम परिस्थितियों का निर्माण तो कर गए पर अपने पूर्वनिश्चित आदर्श-प्रेम में उन्हें व्यवस्था न दे सकने के कारण विकृत कर दिया। इस विकृति के मूल में उनकी आदर्शोन्मुखता का आग्रह उस समय स्पष्ट हो उठता है जब 'प्रसाद' की भाँति वे पात्रों का लगते हैं वध करने। 'सेवासदन' का कृष्णचंद्र, 'गबन' की जोहरा डूब मरती हैं, और 'प्रेमाश्रम' की गायत्री पर्वत पर से कूद पड़ती है और 'रंगभूमि' का विनय तो गोली मार लेता है। इस प्रकार निर्मम हत्याएँ प्रेमचंद की आदश भावनाओं की देन हैं। 'गोदान' में इस पूर्वपरिचित पद्धति

का सर्वथा त्याग दिखाई पड़ता है। तात्पर्य कहने का यह है कि इस अंतिम रचना में आकर लेखक अपनी पूर्व कृतियों का सिंहावलोकन कर एक नवीन योजना की ओर बढ़ा है। प्रेम-क्षेत्र में पहले से वे रमानाथ और जोहरा का संबंध नहीं चला सके थे, इसी प्रकार 'रंगभूमि', 'प्रेमाश्रम' और 'कर्मभूमि' में न जाने कितनी प्रेमार्द्र कृतियाँ रचकर उन्होंने स्वयं विनष्ट कर डालीं पर 'गोदान' में योग पाकर पं० मातादीन और सिलिया चमारिन, झिंगुरीसिंह और ब्राह्मणी, मेहता और मालती इत्यादि की व्यवस्था कर ही दी।

आदर्श - प्रचार और जीवन-दर्शन के विषय में भी 'गोदान' में एक विशेष प्रणाली काम में लाई गई है। वहाँ न तो सेवा-सदन और प्रेमाश्रम स्थापित कराया गया है और न किसी रंग-भूमि और कर्मभूमि की कल्पना को ही प्रसार दिया गया है। इस गोदान की बेला में पहुँचकर लेखक ने अच्छी तरह समझ लिया कि समाज-सुधार, हिंदू-मुस्लिम-ऐक्य, धनिक-श्रमिक संघर्ष, कृषक-जमींदार-विरोध इत्यादि जटिल प्रश्नों पर अभी तक वह जो कुछ लिखता आया है कुछ सफल नहीं हुआ भले ही राष्ट्रो-द्धार के लिए आवश्यक आधारभूमि के निर्माण एवं परिष्कार का काम होता रहा हो। यों तो भारतीय स्वतंत्रता-प्राप्ति के आंदोलन के सक्रिय-युगारंभ से ही प्रेमचंद का साहित्यिक कृतित्व भी उद्भूत हुआ था और राजनीतिक एवं सामाजिक जागरण का प्रतिनिधित्व वे सर्वदा करते आ रहे थे पर अंत में आकर जैसे थककर अथवा पराजित होकर उन्होंने अपनी पहलेवाली मान्यताओं में परिवर्तन की आकांक्षा स्वीकार की हो। यही कारण है कि 'गोदान' की पृष्ठभूमि में कोई सुनिश्चित प्रचार-पक्ष

मुखरित नहीं है। अवश्य ही मेहता और मालती कुछ क्रियाशील दिखाई पड़ते हैं और ग्राम-नगर के आदान-प्रदान और सुधार-परिष्कार की ओर प्रवृत्त भी हुए हैं पर वह सब केवल दो भिन्न क्षेत्रों में एक संबंध-सूत्र स्थापित करने की बौद्धिक और क्रियात्मक चेष्टा का प्रतीक है। 'दोनों एकात्म होकर प्रगाढ़ आलिंगन में बँध' जाँय इस स्वरूप को प्रतिष्ठित करने के लिए ही ग्राम-मैत्री सजाई गई है।

'गोदान' में न तो लेखक का लक्ष्य कथा-प्रसंग था और न किसी व्यक्तिगत शील के वैचित्र्य का ही वह निरूपण करना चाहता था; उसका ध्यान न तो किसी घटना की ओर था और न वह किसी पूर्वनिश्चित सिद्धांत-स्थापन में ही तत्पर दिखाई पड़ता। इसके पूर्व की अपनी अन्य रचनाओं में वह इस प्रकार की सभी साहित्यिक आकांक्षाओं की पूर्तियाँ अनेक रूपों में कर चुका था। अतएव 'गोदान' में वह स्वच्छंद, स्वतंत्र और निरुद्देश होकर केवल जीवन और जगत् की सामयिक अभिव्यक्ति को ही अपना चरम साध्य स्थिर कर लेता है और मानवीय सुकृत-दुष्कृतों को खुल-खेलने का पूर्ण अवसर देता है। इसी की यथार्थता और सजीवता को सुस्पष्ट करने के लिए उसने अत्यंत विस्तृत एवं उन्मुक्त क्षेत्र चुन लिया है। यह क्षेत्र देश-काल के संश्लिष्ट चित्रण के लिए सर्वथा उपयुक्त और पूर्ण दिखाई पड़ता है। इसकी परिधि के भीतर जीवन और जगत् की अनेकरूपता, वैलक्षण्य और सभी प्रकार की उच्चावचता स्फुटित हो गई है। यहाँ जीवित समाज और व्यक्ति का प्रकृत स्वरूप तो चित्रित है ही साथ ही उनकी आकांक्षाओं और आदर्शों की भी पूरी झलक मिल जाती है। एक ही चित्रपट पर भारतवर्ष की सारी सजीव

विविधता और संपूर्णता अपने स्वरूप की स्थापना यथास्थान करती दिखाई पड़ती है, जीवन की इस सुसंबद्ध एकता की पूर्ण अभिव्यक्ति को ही इस उपन्यास में लक्ष्य बनाया गया है। उपन्यास-रचना के अन्य सभी तत्त्वों पर लक्ष्य की इसी ऐकांतिकता का प्रभाव भर उठा है। इस कृति के भीतर उपन्यासकार की बहुवस्तुस्पर्शिनी प्रतिभा का अच्छा परिचय मिलता है।

'गोदान' में आकर प्रेमचंद ने अपनी पहले की संपूर्ण साहित्य-साधना का साररूप प्रस्तुत किया है। रचना-कौशल से संबंध रखनेवाला जितना भी विधान पहले प्रयुक्त हो चुका था उसका सार किसी न किसी रूप में इस उपन्यास में मिल जाता है। कथावस्तु, चरित्र, संवाद और परिस्थिति-योजना इत्यादि उपन्यास-रचना के जो भी सामान्य तत्त्व हैं उनका जैसा भी प्रयोग प्रेमचंद पूर्ववर्ती कृतियों में कर चुके थे उसकी छाप अथवा छाया इस बृहत् रचना में सुरक्षित मिलती है। साथ ही वैयक्तिक अथवा सामाजिक जिन मान्यताओं, आदर्शों अथवा सिद्धांतों की विवेचना वे पहले के उपन्यासों में कर चुके थे उनका भी परिमार्जित स्वरूप 'गोदान' में यथास्थान मिल जाता है। थोड़े में कह सकते हैं कि लेखक की यह अंतिम कृति उसकी साहित्यिक वैयक्तिकता का सारांश रूप है। उसकी उपन्यास-रचना की प्रौढ़ता और उसके संपूर्ण बौद्धिक गठन का सच्चा प्रतिनिधित्व इस उपन्यास से हो जाता है। इस संबंध में ध्यान देने योग्य एक बात और है। गुणों के साथ दोषों का भी विकास होता गया है। रचना-संबंधी जो दोष प्रेमचंद की आरंभिक कृतियों में मुकुलित हुए थे अथवा चरित्रांकन में जो रंगों का आधिक्य अथवा

चटकीलापन पहले दिखाई पड़ता था वह 'गोदान' बेला तक चला आया है। इस विचार से प्रेमचंद में नवोन्मेष का पक्का अभाव था—वस्तुसंकलन में भी और रचना-विधान में भी।

चरित्रांकन—लक्ष्य एवं पद्धति-प्रयोग का जैसा व्यापक प्रभाव 'गोदान' उपन्यास के कथानक पर पड़ा है उसी प्रकार उसके चरित्रांकन पर भी दिखाई पड़ता है। यह बिलकुल प्राकृतिक ही है। साध्य के अनुरूप ही रचना के समस्त साधन भी हो उठते हैं। यदि ऐसा न हो तब तो लक्ष्य की सिद्धि ही संभव नहीं हो सकती। कथानक में जिस प्रकार की अनेकरूपता रखी गई है उसी प्रकार चरित्रों के स्वरूप-निर्धारण में भी विविधता ही मिलती है। जैसे उधर ग्राम और नगर दो व्यापक वर्ग बना लिए गए हैं उसी प्रकार इधर भी मनुष्यों को दो भागों में बाँट लिया गया है। यहाँ राष्ट्र के मानव दो रूपों में विभक्त दिखाई पड़ते हैं। एक ग्राम निवासी हैं दूसरे नागरिक। ये ग्राम और नगर, देश और काल से प्रभावित हैं। उन्हीं का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं; उन्हीं के रूप-रंग में रँगे हैं। ग्राम और नगर की अपनी-अपनी आशाएँ और आकांक्षाएँ हैं। उनकी अपनी बौद्धिक और व्यावहारिक सजावट अलग-अलग है। उनकी योग्यता और रहन-सहन तथा चारित्रिक गठन और मनोबल में भी मूलगत भिन्नता दिखाई पड़ती है। शिक्षा, सामाजिक एवं सांस्कृतिक भूमिका भी दोनों की एक-सी नहीं है। दोनों एक ही राष्ट्र के दो अंग पृथक्-पृथक् हैं, एक ही चित्र के दो पक्ष हैं, एक ही सत्य की दो व्यावहारिक व्याख्याएँ हैं।

ग्राम और नगर के दो प्राकृतिक प्रदेश स्वीकार कर लेने पर फिर उनके भीतर भी खण्डांशों के रूप में पात्रों और चरित्रों को

स्थिर किया गया है। ग्राम की सुसंपूर्णता के लिए जितने प्रकार की परिस्थितियों और मनोवृत्तियों की अपेक्षा हो सकती है उनको चुन लिया गया है। पात्रों की गतिविधि का नियंत्रण ऐसी व्यवस्था से हुआ है कि प्रत्येक पात्र किसी मनोवृत्ति अथवा परिस्थिति का चित्रण कर रहा है। इसी वस्तुस्थिति के आधार पर कहा जाता है कि इस उपन्यास में वर्गगत चरित्र-चित्रण हुआ है; जितने पात्र हैं वे वर्ग विशेष के प्रतिनिधि हैं। अब देखना है कि गाँवों में किस प्रकार के लोग रहते हैं। किसान परिवार के अतिरिक्त सामान्यतः वहाँ ब्राह्मण या पुरोहित, बनिया या साहूकार, पटवारी या चौकीदार, चमार या अन्य अछूत दिखाई पड़ते हैं। खेती-बारी के संपर्क से अथवा व्यवसाय के आधार पर ये विविध वर्ग एक ही स्थान पर ऐसा मिलजुल कर निवास करते हैं कि उनके भीतर एक-सी सामूहिक संस्कृति-चेतना, अभिलाषा और दिनचर्या दिखाई पड़ती है। एकत्व विधायक यही सामूहिकता ग्राम है और यदि ग्राम की सजीवता सामने लानी है तो उक्त विविध वर्गों के जीवन की सामान्य एवं विशेष—सभी प्रकार की परिस्थितियों और चरित्रगत मौलिकताओं का अधिकाधिक उद्घाटन किया जाना चाहिए। 'गोदान' में ग्राम-प्रदेश के सभी आवश्यक अंशों, जीवनवृत्तों और चरित्रगत मनोवृतियों का समावेश हुआ है—और कड़ाई से हुआ है। इसका ध्यान रखा गया है कि ग्राम-जीवन की यथार्थ समग्रता और स्वरूप अक्षुण्ण हो उठे और साथ ही उसका एक अपना वातावरण स्पष्ट हो जाय।

ग्राम की इस समग्रता के उद्घाटन में प्रेमचंद ने पूर्णता एवं स्पष्टता के विचार से स्त्री और पुरुष पात्रों को अलग-अलग रखा है। दोनों की वस्तुस्थिति के अनुसार उनकी मनोवृत्ति और

दिनचर्या में भेद दिखाया है, वर्गगत बनावट में भी अंतर बनाए रखा गया है। दोनों की सामाजिक, धार्मिक और कौटुम्बिक मान्यताएँ, विश्वास, आकांक्षाएँ और क्रियापद्धति अपने-अपने ढंग की हैं; पृथक् हैं। पुरुष उद्दण्ड भी है भीरु भी है, वह अपनी आर्थिक स्थिति को ठीक करने में दिनरात एक कर देता है। सब प्रकार से ऊँच-नीच करके कुटुम्ब के भरणपोषण में, अपनी आवश्यकताओं के विचार से कौड़ी-कौड़ी बटोरने में अथक परिश्रम करता है। वह स्वच्छन्द और उदार भी बना रहता है और अवसर पर कुछ लुटा देने की इच्छा भी कर लेता है। सामाजिक धर्मों और दायित्वों का विचार कर जूझ भी सकता है और गँव देखकर आँख भी चुरा सकता है। गाँव की स्त्रियाँ इन पुरुषों से भिन्न हैं। स्वभाव और प्रकृति की बनावट में वे दयाशील, ममतामयी और सेवारत तो हैं पर अपने—पराए के भेदभाव में पूर्ण, कर्कशा और अपने मन की सनक में भारी गड़बड़ भी कर बैठनेवाली भी हैं। वे सिर झुकाकर पुरुषों और समाज की कठोरताओं को सहन कर लेने में पटु हैं; कष्ट-सहिष्णु व्यवहार-कुशल और परिश्रमी हैं। इस प्रकार गाँव के स्त्री-पुरुष अपने अपने चारित्रिक रंगढंग को लेकर और एक-दूसरे के पूरक बनकर अपनी दैनिक समस्याओं का हल निकालने में लगे रहते हैं। होरी, गोबर, भोला, दातादीन, मातादीन, मंगरू, हीरा, पटेश्वरीलाला, झिंगुरीसिंह, नोखेराम इत्यादि ग्राम के पुरुष हैं और धनियाँ, पुनियाँ, झुनियाँ, सिलिया सहुआइन इत्यादि गाँव की स्त्रियाँ। इनके नाम-काम सभी गाँववालों जैसे हैं। वे सभी ग्राम-जीवन के प्रतीक हैं।

इसी पद्धति पर चलकर लेखक ने नगर और नागरिकों को भी नापा-तौला है। उनकी शारीरिक और बौद्धिक गठन को

उभाड़ा है। उनकी परंपरागत और युगधर्म से प्रभावित—दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों की परीक्षा की है। उनकी स्वपरक निष्ठा और शिक्षा-प्रचालित साधन-सम्पन्नता को भलीभाँति जीवन में उतारा है। वहाँ के निवासी ग्रामीणों की भाँति नित्य की आवश्यकताओं से प्रेरित होकर एक-दूसरे से संबद्ध और अपृथक् नहीं हैं बरन् अपने-अपने व्यवसाय की एकरूपता और ऐकांतिकता से ऊबे हुए क्षणों में कभी-कभी अनुरंजन के विचार से और किसी अवसर पर केवल सामाजिक भावना के आग्रह पर अपनी एक शिक्षित मण्डली जोड़ बैठते हैं। राय साहब की माण्डलिकता पर किसी को आपत्ति नहीं है। उनके यहाँ उत्सवों पर विशेषतः और यों भी प्रायः सभी प्रकार के लोग एकत्र होते हैं। उन लोगों की कर्मावली अथवा विचारधारा से उनकी बातचीत अथवा वादविवाद के प्रसंगों से देशकाल की सामूहिक गतिविधि का पूरा-पूरा परिचय प्राप्त होता है। शिक्षित, सुसभ्य और सुसंस्कृत मानव समूह का यथार्थ दैनिक-जीवन समीप से देखने को मिल जाता है। उनके हृदय का सत् और असत् दोनों पक्ष सामने आता है। उनकी बुद्धि के सभी रगरेशों की बनावट समझ में आ जाती है। उनका भीतर बाहर पूर्णतया खुल उठता है।

———